ISSN 2229-632
भाग - द्वात्रिंश : प्रथम खण्ड

ॐ
पावमानी

त्रैमासिक शोध पत्रिका

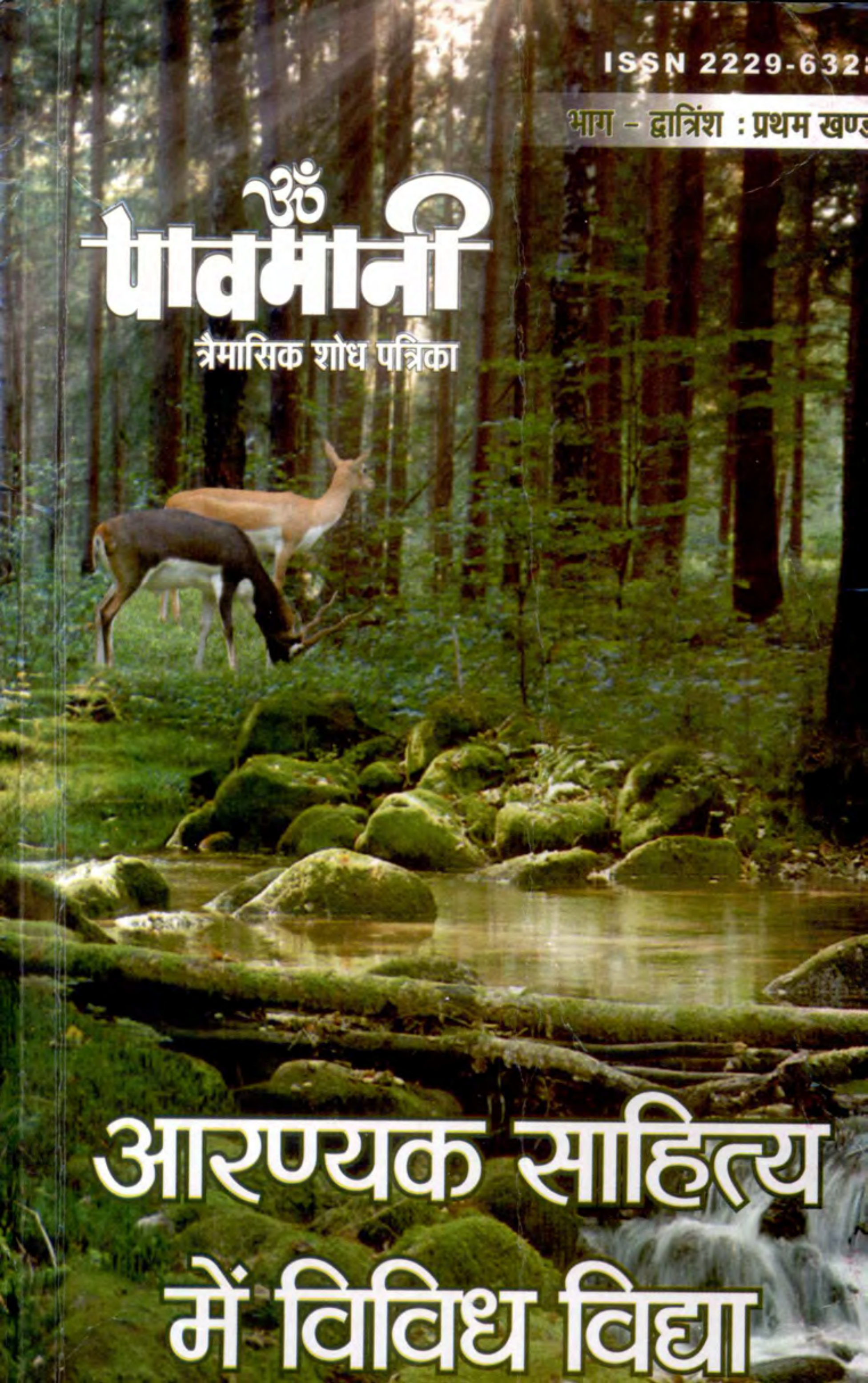

आरण्यक साहित्य में विविध विद्या

ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सूची संख्या ४०९५२

ओ३म्

प्रेरणास्त्रोत : प०पू० स्व० स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक-शोधपत्रिका

भाग : द्वात्रिंशत्, प्रथम खण्ड
(पौष, वि०सं० २०७३)

आरण्यक वाङ्मय में विविध विद्याएँ

प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

सम्पादक

प्रो० सोमदेव शतांशु **डॉ० वाचस्पति मिश्र**

परीक्षकत्व

प्रो० ब्रह्मदेव विद्यालंकार

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जनवरी २०१७ - मार्च २०१७ मूल्य १००.००

❖ एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु.
❖ वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु.
❖ आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु.
❖ आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों के लिए)	...	१५०० रु.
❖ आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था के लिए)	...	५००० रु.
❖ सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु.
❖ संरक्षक सदस्यता शुल्क	..	१०००० रु.
❖ परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु.

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व० माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

❖ स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक
स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी भोला, मेरठ- २५०५०१ (उ.प्र.)
दूरभाष : ९४११४२५६१४
ईमेल : **pavamani86@gmail.com**

❖ **पावमानी- ISSN २२२९-६३२८**
UGC पत्रिका सूची संख्या ४०९५२
भाग : द्वात्रिंशत्, प्रथम खण्ड
जनवरी २०१७-मार्च २०१७
(पौष, वि०सं० २०७३)

❖ अक्षरसंयोजन
दिव्यरञ्जन, विनीत
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

❖ मुद्रक
रस्तौगी प्रकाशन
मेरठ, (उ.प्र.)

❖ प्रेरणास्रोत :
प०पू० स्व० श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

❖ प्रधान सम्पादक
स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

❖ सम्पादक
प्रो० सोमदेव शतांशु
दूरभाष : ०९८३७६४७४२७
डा० वाचस्पति मिश्र
दूरभाष : ०९३१९००२४०२

कल्पादितः १,९७,२९,४९११५ गते
सृष्टि आदितः १,९५,५८,८५११५ गते
युगाब्द ५११६
दयानन्दाब्द १९८

सम्पादकीयम्

जीवनयात्रा का अन्तिम गन्तव्य है- ब्रह्मानन्द की प्राप्ति। जन्म-जन्मान्तर के त्रिताप की कारणभूत कर्मवासनाओं और जीवन की अपूर्णताओं को दूर कर पूर्णता एवं सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति ही जीवन का अन्तिम साध्य है। इस गन्तव्य तक पहुँचने के लिए वेदप्रतिपादित मार्ग ही सहज, शाश्वत एवं सार्वभौम है। मानवमात्र वेदपथ पर चलकर परमानन्द की अनुभूति कर सकता है। वैदिक वाङ्मय चार भागों में विभक्त है- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करने के लिए ऋषियों ने मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास में व्यवस्थित किया है। उपादेय तारतम्य से ब्रह्मचर्याश्रम में संहिताओं का, गृहस्थाश्रम में ब्राह्मणों का, वानप्रस्थ आश्रम में आरण्यकों का तथा संन्यास आश्रम में अध्यात्म-विद्याप्रधान उपनिषदों का स्वाध्याय विहित है। संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषदों का अध्ययन एवं परिचर्चा तो प्रायः यत्र-तत्र होती रहती है, किन्तु आरण्यक-साहित्य से अधिकांश लोग अपरिचितप्रायः हैं। इसे ध्यान में रखते हुए **स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान** ने आरण्यक-साहित्य के रहस्यों को उजागर करने के लिए इस विषय में विगत दिनों शोधगोष्ठी का आयोजन किया। चिन्तनीय स्थिति यह है कि संस्कृत जगत् में भी आरण्यक-साहित्य का चिन्तन-मनन करने वाले विद्वान् अत्यल्प रह गये हैं। अपने पूर्वजों की ज्ञानविज्ञानपूर्ण धरोहर कितने श्रम एवं तपस्याओं से हमारे हाथों तक पहुँची है, उसकी ओर हम देखने का भी प्रयास न करें, यह हमारे लिए अत्यन्त खेद का विषय है। अपरतः विदेशी विद्वान् संस्कृत वाङ्मय के प्रत्येक विषय के गूढ़ अध्ययन में संलग्न हैं। अस्तु इस विषय में आपको जाग्रत करने के लिए पावमानी परिवार का यह लघु प्रयास अवश्य आपको आरण्यक वाङ्मय के प्रचार-प्रसार हेतु प्रोत्साहित करेगा।

महाभारतकार आरण्यक-साहित्य को वैदिक वाङ्मय का नवनीत मानते हैं। विशेषतः अरण्य में इसके अध्ययन किये जाने के कारण इस साहित्य का नाम आरण्यक पड़ा। इस साहित्य में यज्ञिय कर्मकाण्डों का रहस्यात्मक स्वरूप, अध्यात्मविद्या के मर्म एवं उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के सहज विवेचन के साथ-साथ सदाचार, नैतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं भाषावैज्ञानिक विविधज्ञान-विज्ञान सन्निहित हैं। विपुल आरण्यक वाङ्मय में से आज हमें केवल ऐतरेय, तैत्तिरीय, शांखायन, मैत्रायणी, तवलकार (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण) एवं

बृहदारण्यकोपनिषद् ही उपलब्ध हैं। इनमें भी पाठान्तर प्राप्त होता है। अनेक स्थल चिन्तनीय प्रतीत होते हैं। पावमानी में प्रकाश्यमान लेखों में भी लेखकों के विचारस्वातन्त्र्य का ध्यान रखा गया है, जिससे सम्पादक मण्डल की सहमति आवश्यक नहीं है। उपलब्ध आरण्यक-साहित्य की सुरक्षा कर हम इसका प्रचार-प्रसार कर सकें तो मानवजाति का महान् उपकार होगा।

आरण्यक-साहित्य का सन्देश मानव जीवन की समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। तैत्तिरीय आरण्यक में स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञ) की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि स्वाध्यायी व्यक्ति जीवन में सर्वविधकल्याण को प्राप्त करता है, अपने समाज में अग्रणी होता है तथा ज्ञान सम्पन्न होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है। आरण्यकोपदिष्ट नित्यकर्त्तव्य केवल ब्रह्मयज्ञ का उक्त लाभ है।

आज की आधुनिकता, अर्थलिप्सा एवं विषयवासना में डूबे, विभिन्न समस्याओं से ग्रस्त, त्रितापतप्त मानवता के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् का यह वचन प्रेरणास्पद है- **एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्रजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजति....** अर्थात् संसार की अनित्यता एवं निस्सारता को समझते हुए मनुष्य शाश्वत सच्चिदानन्द परमात्मा की प्राप्ति के लिए मुनि होकर अरण्य को प्रव्रजन कर जाते थे। आज की स्थिति तो यह है- बेटे-बहुओं की झिडकियाँ झेलते हुए लोग घरों में पड़े रहते हैं या उनसे प्रताड़ित होकर वृद्धाश्रमों की शरण लेकर जीवन दिन गिन रहे हैं। भारतीय संस्कृति में जीवन का तीन चौथाई भाग ग्राम या नगर से दूर अरण्य में ही व्यतीत होता था। आठ एवं साठ वर्ष के लोग अरण्य के पवित्र वातावरण में पहुँच जाते थे। वहाँ गुरुकुल बन जाता था। एक स्नेहिल वातावरण में ब्रह्मचारियों का अध्ययन एवं वानप्रस्थियों का स्वाध्याय तथा तपश्चरण सम्पन्न हो जाता था।

मानव जीवन देवत्व प्राप्ति का एक सोपान है। हम अनित्य क्षणभंगुर सांसारिक सुख की लालसा त्यागकर परमानन्द प्राप्ति के लिए अग्रसर हों, पावमानी परिवार यही कामना करता है।

सोमदेव शतांशु

विषयानुक्रमणिका

१. आरण्यक-साहित्य	१-१४
प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय	
२. तैत्तिरीय आरण्यक में ब्रह्मयज्ञ	१५-२०
प्रो०सोमदेव शतांशु	
३. तैत्तिरीयारण्यकाभिमत ब्रह्मयज्ञमीमांसा	२१-३०
प्रो० प्रयागनारायण मिश्र	
४. ऐतरेय आरण्यक में प्रतिपादित..	३१-३८
डा०योगेन्द्र कुमार भानु	
५. आरण्यक साहित्य में आत्मतत्त्व	३९-४४
डा०स्नेहलता शर्मा	
६. आरण्यक वाङ्मय में प्राणविद्या	४५-४८
डा०सुधीर कुमार शर्मा	
७. ऐतरेयारण्यक में वर्णित महाव्रत...	४९-५४
डा०विनोद कुमार	
८. ऐतरेय आरण्यक में निरुक्ति-विज्ञान	५५-६०
डा०अभिमन्यु	
९. ऐतरेय आरण्यक में निर्वचन का स्वरूप	६१-६८
डा०करुणा आर्या	
१०. तैत्तिरीय आरण्यक में स्वाध्याय मीमांसा	६९-७२
डा० सत्यकेतु	
११. मैत्रायणीयारण्यके ब्रह्मतत्त्वविचारणा	७३-७८
श्रीमान् अंकित:	
१२ ऐतरेय आरण्यक में प्राण तत्त्व	७९-८४
डा० उमा शर्मा	
१३. ऐतरेय आरण्यक का सांस्कृतिक	८५-९४
डा० शुचि अग्रवाल	
१४. वैदिकयज्ञादिकर्मकाण्डेषु पशुहिंसा	९५-१००
आचार्यो बृहस्पति: निगमालंकार:	
१५. बृहदारण्यक में आत्मतत्त्व-विमर्श	१०१-१०६
डा० वेदव्रत	

आरण्यक-साहित्य का संक्षिप्त-परिचय

क्र० सं०	आरण्यक	सम्बद्ध वेद	विशेष विवरण
१.	ऐतरेय	ऋग्वेद	इसमें पाँच आरण्यक या प्रपाठक हैं। ये पुनः अध्यायों में विभक्त हैं।
२.	शांखायन	ऋग्वेद	इसको कौषीतकि आरण्यक भी कहते हैं। इसमें १५ अध्याय हैं। अध्याय ३ से ६ तक को कौषीतकि उपनिषद् तथा अध्याय ७ से ८ को संहितोपनिषद् कहते हैं।
३.	बृहदारण्यक	माध्यन्दिन एवं काण्व शाखा	यह शतपथ ब्राह्मण के १४ वें काण्ड का अन्तिम भाग है। इसमें ६ अध्याय हैं तथा अध्याय उपखण्डों (ब्राह्मणों) में विभक्त हैं। आकार की दृष्टि से यह सबसे विशालकाय आरण्यक है।
४.	तैत्तिरीय	तैत्तिरीय एवं काठक शाखा	इसमें १० प्रपाठक (अरण) या परिच्छेद हैं। प्रपाठक अनुवाक में विभक्त हैं। प्रपाठकों का नामकरण उनके प्रथम पद के आधार पर किया गया है। अध्यय ७ से ९ को तैत्तिरीय उपनिषद् तथा अध्याय १० को महानारायणीय उपनिषद् कहा जाता है।
५.	मैत्रायणीय	मैत्रायणीय शाखा	इसे मैत्रायणीय उपनिषद् भी कहते हैं। इसमें ७ प्रपाठक हैं तथा प्रपाठक खण्ड में विभक्त हैं।
६.	तलवकार	सामवेद	इसे जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण भी कहते हैं। इसमें चार अध्याय हैं तथा अध्यायों के अवान्तर भेद अनुवाक और खण्ड हैं।

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

आरण्यक-साहित्य

प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय[1]

आरण्यक-साहित्य की पृष्ठभूमि

स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म के प्रति आकर्षण स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है। श्रौतयागों के सन्दर्भ में भी, जनमानस में, विशेषरूप से प्रबुद्धवर्ग में, इसी प्रकार का आकर्षण शनैःशनैः उत्तरोत्तर अभिवृद्ध हुआ। यज्ञ के द्रव्यात्मक स्वरूप के बहुविध स्वरूपविस्तार में, जब उसका वास्तविक मर्म ओझल होने लगा, तो यह आवश्यकता गहराई से अनुभव की गई कि श्रौतयागों की आध्यात्मिक एवं प्रतीकात्मक व्याख्या की जाय। ब्राह्मण-ग्रन्थों के उत्तरार्द्ध में, इसी दृष्टिकोण को प्रधानता प्राप्त हुई और उसमें वैदिक यागों के अन्तर्तम में निहित गम्भीर अर्थवत्ता, वास्तविक मर्म आध्यात्मिक रहस्यों के सन्धान के लिए जिस चिन्तन को आकार मिला, उसी का नामकरण आरण्यक-साहित्य के रूप में हुआ। आरण्यक-ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों के मध्य की कडी हैं। उपनिषदों में जिन आध्यात्मिक तत्त्वों को हम अत्युच्च शिखर पर आरूढ देखते हैं, उनकी पृष्ठभूमि आरण्यकों में ही निहित है। वेदोक्त सामाजिक व्यवस्था में, आश्रमप्रणाली का विशेष महत्त्व है। ब्राह्मणग्रन्थोक्त श्रौतयागों के अनुष्ठान के अधिकारी गृहस्थाश्रमी माने गये हैं। इसके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट व्यक्तियों के लिए वैदिक वाङ्मय में, आरण्यक-साहित्य विशेष उपादेय समझा गया है। पचास वर्ष से अधिक अवस्था वाले ऐसे व्यक्तियों में जो श्रौतयागों के स्थूल द्रव्यात्मक स्वरूप से सुपरिचित थे, अब इस स्वरूप के वास्तविक मर्म की जिज्ञासा स्वभावतः अधिक थी। इन्हीं की बौद्धिक जिज्ञासाओं के शमन के लिए आरण्यक-साहित्य का प्रणयन हुआ।

नामकरण और महत्त्व

आरण्यक नाम से स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों का घनिष्ठ सम्बन्ध अरण्य अथवा वन से है। अरण्यों के एकान्त वातावरण में, गम्भीर आध्यात्मिक रहस्यों के

[1] **पूर्व आचार्य**, संस्कृत-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

अनुसन्धान की चेष्टा स्वाभाविक ही नहीं, सुकर भी थी। आरण्यकों में सकाम कर्म के अनुष्ठान तथा उसके फल के प्रति आसक्ति की भावना दिखलाई नहीं देती। इसी कारण इनका आध्यात्मिक महत्त्व ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है। उपनिषदों के तत्त्वज्ञान को समझने के लिए भी आरण्यकों का पहले अनुशीलन आवश्यक है। उपनिषदों में बहुसंख्यक ऐसे प्रसंग हैं, जिनके यथार्थ परिज्ञान के लिए उनके उन मूलाधारों को जानना आवश्यक है, जो आरण्यकों में निहित हैं। भाषा की दृष्टि से भी आरण्यक-साहित्य महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इनका प्रणयन वैदिक और लौकिक संस्कृत की मध्यवर्तिनी भाषा में हुआ है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण एवं आरण्यक परस्पर अत्यधिक सम्बद्ध हैं, इसलिए बौधायन-धर्मसूत्र में आरण्यकों को भी ब्राह्मण आख्या से संयुक्त किया गया है- **विज्ञायते कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात् पूतो देवलोकान् समश्नुते इति हि ब्राह्मणमिति हि ब्राह्मणम्।** ३.७.७.१६

तैत्तिरीयारण्यक-भाष्यभूमिका में सायणाचार्य का कथन है कि अरण्यों अर्थात् वनों में पढ़े-पढ़ाये जाने के कारण आरण्यक नामकरण सम्पन्न हुआ-
अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।। तै०आ०भा०भू० श्लोक ६

ब्रह्मचर्य-नियमों का पालन करने वाला ही इन ग्रन्थों के अध्ययन का अधिकारी है-

एतदारण्यकं सर्गं नाव्रती श्रोतुमर्हति। तै०आ०भा०भू० श्लोक ९

व्युत्पत्ति की दृष्टि से आरण्यक शब्द अरण्य में वुञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। इस प्रकार इसका अर्थ है- अरण्य में होने वाला- "**अरण्ये भवमिति आरण्यकम्**।" बृहदारण्यक में भी इसी का समर्थन किया गया है- **अरण्येऽनूच्यमानत्वात् आरण्यकम्।**

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आरण्यकों का अध्ययन सामान्यतः वनों में ही किया जाता था, किन्तु यह अनिवार्यता नहीं थी। तैत्तिरीयारण्यक के कुछ अंशों से विदित होता है कि वैदिकयुग में, वनों के साथ ही ग्रामों में भी पावन अन्तःकरण से इनका अध्ययन हो सकता था। इस दृष्टि से दिन और रात का भी

कोई बन्धन नहीं था।[2] यही नहीं, चलते हुए, बैठे हुए, लेटे हुए तथा निद्रोन्मुख स्थितियों में भी यदि कोई इनका अध्ययन कर लेता था, तो वह सभी लोकों की उपलब्धि का भाजन हो जाता था।[3] इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में आरण्यकों का अनुशीलन सर्वत्र किया जाता था, किन्तु कालान्तर से इन्हें वनों में ही पढ़े जाने को अधिक श्रेयस्कर माना जाने लगा। पाश्चात्य विद्वानों का मन ब्राह्मण-ग्रन्थों में यद्यपि कम रमा है, किन्तु उन्होंने भी आरण्यकों की प्रशंसा उन्मुक्त हृदय से की है। ओल्डेनबर्ग और मैक्डानल जैसे मनीषी इन पवित्र ग्रन्थों की गरिमा से पूर्णतया आश्वस्त प्रतीत होते हैं। महाभारत में कहा गया है कि जैसे दधि से नवनीत, मलयगिरि से चन्दन और औषधियों से अमृत प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार वेदों से आरण्यक ले लिया जाता है-

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्य औषधिभ्योऽमृतं यथा।। ३३१.३

आरण्यकों का ब्राह्मणों के साथ सम्बन्ध

आरण्यक-ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों की ही श्रृंखला में, वस्तुतः उनके उत्तरार्द्ध भाग में संकलित है। कर्मकाण्ड के साथ दोनों का ही सम्बन्ध है, इसलिए ये एक ही परम्परा से अनुस्यूत हैं। राजा जनक के द्वारा सर्वश्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता को १०० गायें देने की आख्यायिका शतपथ-ब्राह्मण के साथ ही बृहदारण्यक में भी उपलब्ध होती है। बृहदारण्यक में केवल इतनी विशिष्टता है कि उसमें याज्ञवल्क्य और तत्कालीन अन्य तत्त्वचिन्तकों के मध्य हुआ दार्शनिक तत्त्वों पर विशद विचार-विमर्श भी सम्मिलित है। इससे स्पष्ट है कि आरण्यक-भाग ब्राह्मण-ग्रन्थों पर निर्भर हैं। इस सन्दर्भ में, इतना और ज्ञातव्य है कि आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों में उन कर्मकाण्डों का विवेचन है, जिनका विधान गृहस्थ के लिए था, किन्तु वृद्धावस्था में जब वह वनों का आश्रय लेता है, तो कर्मकाण्ड के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की उसे

---

[2] ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं उतारण्येऽबल उत वाचोत तिष्ठन्नुत व्रजन्नुतासीन उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्यायम्। तै० आर० २.१२.२

[3] य एवं विद्वान् महारात्र उषस्युदिते व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानोऽरण्ये ग्रामे वा यावत्तरसं स्वाध्यायमधीते सर्वाल्लोकाँ जयति सर्वाल्लोकाननृणोऽनुसञ्चरति। वही २.१५.१

आवश्यकता होती थी और आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करते हैं।[4] आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी कर्मकाण्ड के दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त-भाष्य (१.४) में **ऐतरेयके रहस्य-ब्राह्मणे** कहकर आरण्यकों के लिए रहस्य-ब्राह्मण नाम का प्रयोग किया है। गोपथ-ब्राह्मण (२.१०) में भी **रहस्य**-शब्द का व्यवहार इस सन्दर्भ में दिखाई देता है।

आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य-विषय

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार आरण्यक यज्ञ के गूढ रहस्य का प्रतिपादन करते हैं। रहस्य शब्द से अभिहित की जाने वाली ब्रह्मविद्या की भी इसमें सत्ता है। आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना है। ये प्राणविद्या को अपनी अनोखी सूझ नहीं बतलाते, प्रत्युत ऋग्वेद के मन्त्रों (६.१६४.३१; १.१६४.३८) को अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं, जिनमें प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास मिलता है।[5] उपनिषदों के समान आरण्यक-ग्रन्थ भी एक ही मूलसत्ता को मानते हैं, जिसका विकास इस सृष्टि के रूप में हुआ है। विभिन्न वस्तुओं में एक ही तत्त्व कैसे अनुस्यूत है? इसका निरूपण ऐतरेयारण्यक में इस प्रकार हुआ है- **एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एवं महाव्रते छन्दोगा एतमस्यामेतं दिव्येतं वायावेतमाकाश एतमप्स्वेतामोषधीष्वेतं वनस्पतिष्वेतं चन्द्रमस्येतं नक्षत्रेष्वेतं सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्म इत्याचक्षते।**

तैत्तिरीय-आरण्यक में काल का निदर्शन बहुत सुन्दरता से किया गया है। काल निरन्तर प्रवहमान है। अखण्ड संवत्सर के रूप में हम इसी पारमार्थिक काल के दर्शन करते हैं। व्यावहारिक काल अनेक तथा अनित्य है। व्यवहार की दृष्टि से उसके अनेक भाग मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास इत्यादि रूपों में किये जाने पर भी वस्तुतः वह एकरूप अथवा एकाकार ही रहता है। इस सन्दर्भ में नदी का दृष्टान्त दिया गया है, जो अक्षय स्रोत से प्रवाहित होती है, जिसे नाना सहायक नदियाँ

---

[4] भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० ५९

[5] वैदिक साहित्य और संस्कृति, (पञ्चम संस्करण) पृ० २३४-३५

आकर पुष्ट बनाती हैं तथा जो विस्तीर्ण होकर कभी नहीं सूखती। यही स्थिति काल के सन्दर्भ में संवत्सर की है-

नदीव प्रभवात् काचिदक्षय्यात् स्यन्दते यथा।
तां नद्योऽभिसमायान्ति सोरुः सती न निवर्तते।।
एवं नाना समुत्थानाः कालाः संवत्सरं श्रिताः। तै०आ० १.२

प्राणविद्या के महत्त्व का निरूपण आरण्यकों में विशेषरूप से है। ऐतरेय-आरण्यक का यह विशिष्ट प्रतिपाद्य है। तदनुसार प्राण इस विश्व का धारक है। प्राण की शक्ति से जैसे यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, उसी प्रकार सर्वोच्च प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त प्राणी इसी प्राण के द्वारा प्रतिष्ठित हैं- **सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धाः तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।** ऐ०आ०२.१.६

प्राण ही आयु का कारण है। कौषीतकि उपनिषद् से भी इसकी पुष्टि होती है- **यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।** अन्तरिक्ष और वायु से प्राण का सम्बन्ध पितृवत् है। प्राण ने ही दोनों की सृष्टि की है, इसलिए जैसे पुत्र अपने सत्कर्मों से पिता की सेवा करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायु भी प्राण की सेवा में संलग्न रहते हैं- **प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति अन्तरिक्षमनुश्रृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एतमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च** (ऐ०आ०२.१.७)। सभी ऋचाएँ, यहाँ तक कि सभी वेद और ध्वनियाँ प्राण में ही समाहित हैं- **ता वा एताः सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येवं विद्यात्** (ऐ०आ०२.२.२)।

प्राण के विभिन्न रूपों के ध्याता को विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है। अहोरात्र के रूप में प्राण कालात्मक है। प्रातःकाल प्राण का प्रसरण दिखलाई पडता है। सायंकाल इन्द्रियाँ में जो संकोच आता है, वह भी प्राण के कारण ही है। हिरण्यदन नामक ऋषि ने प्राण की देवात्मक रूप में उपासना की थी। ऐतरेय-आरण्यक में भी प्राणों की ऋषिरूप में भी उपासना निर्दिष्ट है। गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ प्रभृति सभी ऋषि प्राण ही हैं। गृत्समद नाम में

विद्यमान गृत्स और मद का इस सन्दर्भ में पृथक्-पृथक् निर्वचन करते हुये कहा है कि प्राण ही शयन के समय वाक्, चक्षु इत्यादि इन्द्रियों का निगरण करने के कारण गृत्स है और रति क्रिया के समय वीर्यस्खलन रूप मद को उत्पन्न करने के कारण मद कहलाता है। इस प्रकार गृत्समद का तात्पर्य है प्राण और अपान का संयोग। प्राण ही विश्वामित्र है, क्योंकि समस्त विश्व इस प्राण देवता का भोग्य होने के कारण मित्र है- **विश्वः मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः।** वामदेव नामगत वाम शब्द प्राण की वन्दनीयता, भजनीयता और सेवनीयता का द्योतक है। समस्त विश्व को पाप से बचाने के कारण अत्रि भी प्राण ही है- **सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः।** भरद्वाज के सन्दर्भ में कहा गया है कि गतिसम्पन्न होने से मानव देह वाज है और प्राण इस शरीर में प्रवेश करके निरन्तर उसका भरण करता है। वसिष्ठ भी प्राण ही है, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रियों के निवास करने का कारण प्राण ही है। इस प्रकार, ऋषि-भावना से प्राणोपसना का निर्देश आरण्यकों में अत्यन्त विस्तार से उपलब्ध होता है। मैत्रायणी-आरण्यक में प्राण, अग्नि और परमात्मा शब्दों को समानार्थक बतलाया गया है- **प्राणोऽग्निः परमात्मा** (मै०आ०६.९)।

ऐतिहासिक सन्दर्भों में उपादेय अनेक नवीन तथ्यों का परिज्ञान भी आरण्यकों से होता है। तदनुसार यज्ञोपवीत का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय-आरण्यक में है। वहाँ कहा गया है कि यज्ञोपवीत धारण करके जो व्यक्ति यज्ञानुष्ठान करता है, उसका यज्ञ भलीभाँति स्वीकार किया जाता है, ऐसा यज्ञोपवीतधारी व्यक्ति जो कुछ भी पढता है, वह यज्ञ ही है- **प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽपसृतोऽनुपवीतिनो यत्किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजत एव तत्** (२.१.१)।

श्रमण शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय आरण्यक में तपस्वी के अर्थ में हुआ है- कालान्तर से बौद्धकाल में यह शब्द बौद्ध-भिक्षुओं का ज्ञापक बन गया- **वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो बभूवुस्तानृषयोऽर्थमायंस्ते निलायमचरँस्तेऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि ताँस्तेष्वन्यविन्दंछ्रद्धया च तपसा च** (२.७.१)।

इसी आरण्यक में एक सहस्र धुरों वाले बहुसंख्यक चक्रों वाले तथा सहस्र अश्वों वाले एक विलक्षण रथ का वर्णन है। काण्वशाखीय बृहदारण्यक में संन्यास

का विधान स्पष्ट शब्दों में है। कहा गया है कि आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही कोई मुनि होता है। इसी ब्रह्मलोक की इच्छा से संन्यासी संन्यास धारण करते हैं- **तमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एवमेव प्रव्रजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति** (४.४.२२)। ब्रह्म, आत्मा और पुनर्जन्म का इस आरण्यक में विशद वर्णन है।

आरण्यकों के प्रवचनकर्ता

अधिकांश आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तिम भाग हैं, इसलिए उन ब्राह्मणों के प्रवचनकर्ता ही, कतिपय अपवादों को छोडकर, आरण्यकों के भी प्रवचनकर्ता हैं। उदाहरण के लिए ऐतरेय-आरण्यक परम्परा के अनुसार ऐतरेय-ब्राह्मण का अन्तिम भाग है, इसलिए ऐतरेय-ब्राह्मण के प्रवक्ता महीदास ऐतरेय को ही ऐतरेय-आरण्यक का (तृतीय आरण्यक तक) भी प्रवचनकर्त्ता माना जाता है। इस प्रकार का उल्लेख भी ऐतरेय-आरण्यक में है- **एतद्ध स्म वै तद्धिद्धानाह महीदास ऐतरेयः** (२.१.८)। यद्यपि प्रो० कीथ इस उल्लेख को ही आधार मानकर महीदास को ऐतरेयारण्यक की रचना का श्रेय नहीं देते[6] किन्तु अधिकांश विद्वान् उनसे असहमत हैं। इसलिए यह निश्चित है कि ऐतरेय आरण्यक के तृतीय आरण्यकान्त भाग के प्रवचनकर्त्ता महीदास ऐतरेय ही हैं। ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत चतुर्थारण्यक के प्रवचनकर्त्ता आश्वलायन तथा पञ्चम के शौनक माने जाते हैं। ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में सायण की भी यही धारणा है- **अत एव पंचमे शौनकेनोदाहृताः। ताश्च पञ्चमे शौनकेन शाखान्तरमाश्रित्य पठिताः।**

शांखायन आरण्यक के द्रष्टा का नाम गुणाख्य शांखायन है। इनके गुरु का नाम कहोल कौषीतकि था, जैसा कि इस आरण्यक के १५ वें अध्याय में सुस्पष्ट उल्लेख है- **नमो ब्रह्मणे नम आचार्येभ्यो गुणाख्याच्छांखायनादस्माभिरधीतं गुणाख्यः शांखायनः कहोलात्कौषीतकिः।**

बृहदारण्यक के प्रवचनकर्ता, परम्परा से महर्षि याज्ञवल्क्य माने जाते हैं। क्योंकि वही सम्पूर्ण शतपथ-ब्राह्मण के प्रवक्ता हैं और बृहदारण्यक शतपथान्तर्गत ही है। सायणाचार्य के अनुसार तैत्तिरीय आरण्यक के रूप में प्रख्यात

---

[6] ऐतरेय-आरण्यक (कीथ- सम्पादित तथा अनूदित) पृ० २१०

कृष्णयजुर्वेदीय आरण्यक के द्रष्टा ऋषि कठ हैं- इस प्रकार इसे काठक-आरण्यक के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए-

कठेन मुनिना दृष्टं काठकं परिकीर्त्यते।
सावित्रो नाचिकेतश्च चातुर्होत्रस्तृतीयकः।।
तुर्यो वैश्वसृजस्तद्वद् वह्निरारुणकेतुकः।
स्वाध्यायब्राह्मणं चेति सर्वं काठकमीरितम्।। भाष्योपक्रमणिका श्लोक ११.१०

मैत्रायणीय-आरण्यक ही मैत्रायणीय उपनिषद् के रूप में प्रख्यात है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, सामवेद के अन्तर्गत तवल्कार-आरण्यक के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्त में कश्यप से गुप्त लौहित्य तक ऋषि-नामों की सुदीर्घ श्रृंखला दी गई है।

आरण्यकों का देशकाल

आरण्यक-ग्रन्थों का देशकाल वही है, जो ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। तैत्तिरीयारण्यक में गंगा-यमुना का तटवर्त्ती मध्यदेश अत्यन्त पवित्र तथा मुनियों का निवास बतलाया गया है- **नमो गंगायमनुयोर्मध्ये ये वसन्ति ते मे प्रसन्नात्मानश्चिरं जीवितं वर्धयन्ति नमो गंगायमनुयोमुर्निभ्यश्च** (तै०आ० २.२०)।

इसी आरण्यक में आगे कुरुक्षेत्र तथा खाण्डववन का वर्णन है, जिससे ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध कुरुपांचाल जनपदों से रहा है। शांखायन आरण्यक में उशीनर, मत्स्य, कुरु-पाञ्चाल, काशि तथा विदेह जनपदों का वर्णन है- **अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पृष्ट आस सोऽवसदुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपांचालेषु काशिविदेहेष्विति** (६.१)।

मैत्रायणीय-आरण्यक में तत्कालीन भारत के प्रतापी सम्राटों के नाम मिलते हैं-

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः। केचित् सुद्युम्न-भूरिद्युम्न........ अक्षसेनादयः। मै.आर.६.९

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि आरण्यक-ग्रन्थों का प्रदेश प्राचीन भारत का प्रायः मध्यभाग है।

आरण्यकों की भाषा एवं शैली

आरण्यकों की भाषा सामान्यतः ब्राह्मणों के सदृश ही है। ऐतेरेय आरण्यक में, अनेक स्थलों पर ऐतरेय ब्राह्मण के वाक्य भी ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। प्रायः यह वैदिक और लौकिक संस्कृत के मध्य की भाषा है। जैमिनीय शाखा के तवल्कार आरण्यक की भाषा में अन्य आरण्यकों की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप सुरक्षित है। शैली में वर्णनात्मकता अधिक है। मन्त्रों के उद्धरणपूर्वक अपने प्रतिपाद्य का निरूपण करने की शैली आरण्यकग्रन्थों में प्रायः पाई जाती है। आरण्यकों के उन भागों में, जो आज उपनिषद् के रूप में प्रतिष्ठित हैं, संवादमूलक सम्प्रश्नशैली भी दिखलाई देती है।

आरण्यकों का परिचय

सम्प्रति केवल छः आरण्यक ही उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के दो आरण्यक हैं- ऐतरेय और शांखायन। शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध बृहदारण्यक है, जो काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में प्राप्त होता है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय और काठक शाखाओं का एक ही प्रतिनिधि आरण्यक है- तैत्तिरीयारण्यक। मैत्रायणीयारण्यक नाम से मैत्रायणी शाखा का आरण्यक पृथक् से उपलब्ध है। सामवेद की कौथुमशाखा में छान्दोग्य उपनिषद् के अन्तर्गत आरण्यक भाग भी मिला हुआ है। किन्तु पृथक् से उसका आरण्यक रूप में अध्ययन प्रचलित नहीं है। विषयवस्तु की दृष्टि से प्राणविद्या का भी उसमें विशद वर्णन है। तवल्कार आरण्यक (जैमिनीयशाखीय) का कौथुमशाखीय सम्पादित संस्करण ही है छान्दोग्योपनिषद्। अथर्ववेद का पृथक् से कोई आरण्यक यद्यपि प्राप्त नहीं होता, लेकिन उससे सम्बद्ध गोपथ-ब्राह्मण के पूर्वार्ध में बहुत-सी सामग्री ऐसी है, जो आरण्यकों के अनुरूप ही है।

१. ऐतरेय आरण्यक

ऐतरेय आरण्यक में पाँच प्रपाठक हैं, जो पृथक् आरण्यक के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है, जो गवामयनसंज्ञक सत्रयाग का उपान्त्य दिन माना जाता है। महाव्रत के अनुष्ठान में प्रयोज्य शस्त्रों की व्याख्या इसमें आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक ढंग से की गई है। द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ या निष्केवल्य शस्त्र तथा प्राणविद्या और पुरुष का वर्णन है।

इस आरण्यक के चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक संहितोपनषिद् के रूप में भी प्रसिद्ध है। इसमें संहिता, पदक्रम-पाठों तथा स्वर-व्यंजनादि के स्वरूप का निरूपण है। इस खण्ड में शाकल्य तथा माण्डूकेय प्रभृति आचार्यों के मतों का उल्लेख है। चतुर्थ आरण्यक में महानाम्नी ऋचाओं का संग्रह है। ये ऋचाएँ भी महाव्रत में प्रयोज्य हैं। पञ्चम आरण्यक में महाव्रत के माध्यन्दिन सवन के निष्केवल्यशस्त्र का वर्णन है।

द्वितीय प्रपाठक के प्रारम्भ में कहा गया है कि वैदिक अनुष्ठान के मार्ग का उल्लंघन करने वाले पक्षी, पौधे तथा सर्प प्रभृति रूपों में जन्म लेते हैं और इसके विपरीत वैदिक मार्ग के अनुयायी अग्नि, आदित्य, वायु प्रभृति देवों की उपासना करते हुए उत्तम लोकों को प्राप्त करते हैं। पुरुष को प्रज्ञा-सम्पन्न होने के कारण इसमें विशेष गौरव प्रदान किया गया है- **पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञानं पश्यति** (ऐ.आर. २.३)। ऐतरेय आरण्यक में आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो पुरुष सब प्राणियों में विद्यमान अश्रुत, अदृष्ट और अविज्ञात है, किन्तु जो श्रोता, मन्ता, द्रष्टा, विज्ञाता इत्यादि है, वही आत्मा है- **स योऽतोऽश्रुतोऽमतोऽनतोऽदृष्टोऽविज्ञातोऽनादिष्टः श्रोता मन्ता द्रष्टाऽदेष्टा घोष्टा विज्ञाता प्रज्ञाता सर्वेषां भूतानामान्तरपुरुषः स म आत्मेति विद्यात्** (३.२)।

महाव्रत संज्ञककृत्य के नामकरण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इन्द्र वृत्र को मारकर महान् हो गये इसीलिए इसे महाव्रत कहा गया है (ऐत.आ.१.१.१)।

ऐतरेय आरण्यक से ज्ञात होता है कि उस समय समाज में स्त्रियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। कहा गया है कि पत्नी को प्राप्त करके ही पुरुष पूर्ण होता है- **पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते** (१.५.३)। नैतिकता पर इसमें विशेष बल दिया गया है। कहा गया है कि सत्यवादी लौकिक सम्पत्ति तो प्राप्त करता ही है, वैदिक अनुष्ठानों से कीर्तिभाजन भी हो जाता है- **तदेतत् पुण्यं फलं वाचो यत्सत्यं स हेश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिर्भवितोः पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदति** (२.३.६)।

३. शांखायन आरण्यक

शांखायन आरण्यक में पन्द्रह अध्याय हैं। इसके तृतीय से लेकर षष्ठपर्यन्त अध्याय कौषीतकि उपनिषद् कहलाते हैं। सप्तम और अष्टम अध्याय संहितोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध हैं। प्रथम दो अध्यायों में ऐतरेयारण्यक के सदृश महाव्रत का विवेचन है। नवमाध्याय में प्राण की श्रेष्ठता का वर्णन है। दशम अध्याय में आन्तर आध्यात्मिक अग्निहोत्र का विशद तथा सर्वांगीण निरूपण है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि सभी देवता पुरुष में प्रतिष्ठित हैं। वाणी में अग्नि, प्राण में वायु, नेत्रों में आदित्य, मन में चन्द्रमा, श्रवण में दिशाएँ तथा वीर्य में जल। जो इसे जानकर स्वयं खाता-पीता तथा खिलाता-पिलाता है, उससे सभी देवों के निमित्त आहुतियाँ पहुँच जाती हैं (१०.१)। ११वें अध्याय में मृत्यु के निराकरण के लिए एक विशिष्ट याग विहित है। इसी अध्याय में स्वप्नों के फल उल्लिखित हैं। अनिष्ट निवारण के लिए होमरूप शान्तिकर्म विहित हैं। १२वें अध्याय में पूर्ववत् आशीर्वाद की प्रार्थना तथा फलकथन है। इसमें समृद्धिकामी व्यक्ति के लिए बिल्व के फल से एक मणि बनाने की प्रक्रिया दी गयी है। १३वें अध्याय में बतलाया गया है कि व्यक्ति पहले विरक्त होकर अपने शरीर का अभ्यास करे। इस संक्षिप्त अध्याय में तपस्या, श्रद्धा, शान्ति और दमनादि उपायों के अवलम्बन का निर्देश है। अन्त में उसे **"यदयमात्मा सा एष तत्त्वमसीत्यात्माऽवगम्योऽहं ब्रह्मास्मि"** रूप में अनुभूति करनी चाहिए। १४ वें अध्याय में केवल दो मन्त्र हैं- प्रथम मन्त्र में उपर्युक्त **अहं ब्रह्मास्मि** वाक्य ऋचाओं का मूर्धा है, यजुषों का उत्तमाङ्ग है, सामों का शिर है और आथर्वणमन्त्रों का मुण्ड है। इसे समझे बिना जो वेदाध्ययन करता है, वह मूर्ख है। वह वास्तव में वेद का शिरश्छेदन कर उसे जड भर बना देता है। दूसरा वह सुप्रसिद्ध मन्त्र इस अध्याय में है, जिसके अनुसार अर्थ-ज्ञान के बिना वेदपाठ करने वाला व्यक्ति ठूँठ के समान है। इसके विपरीत अर्थज्ञ व्यक्ति सम्पूर्ण कल्याण की प्राप्ति करते हुए अन्त में स्वर्ग-लाभ कर लेता है-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।

१५वें अध्याय में आचार्यों की वंशपरम्परा दी गई है। तदनुसार स्वयंभू ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, विश्वामित्र, देवरात, साकश्व, व्यश्व, विश्वमना, उद्दालक,

सुम्नयु, बृहद्दिवा, प्रतिवेश्य, प्रातिवेश्य, सोम, सोमपा, सोमापि, प्रियव्रत, उद्दालक, आरुणि, कहोल कौषीतकि और अन्तिम आचार्य गुणाख्य शांखायन का उल्लेख है। शांखायन-आरण्यक की नाम परम्परा शांखायन इन्हीं गुणाख्य शांखायन से प्रवर्तित हुई।

३. बृहदारण्यक

इस शुक्लयजुर्वेदीय आरण्यक की विशेष प्रसिद्धि उपनिषद् के रूप में है। आत्मतत्त्व की इसमें विशेष विवेचना की गई है।

४. तैत्तिरीयारण्यक

तैत्तिरीयारण्यक में दस प्रपाठक हैं। इन्हें सामान्यतया अरण संज्ञा प्राप्त है। प्रत्येक प्रपाठक का नामकरण इनके आद्य पद से किया जाता है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं- भद्र, सहवै, चिति, युंजते, देव वै, परे, शिक्षा, ब्रह्मविद्या, भृगु तथा नारायणीय। इनमें से प्रथम प्रपाठक को भद्र नाम से अभिहित किया जाता है, क्योंकि उसका प्रारम्भ **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः** मन्त्र से हुआ है। सप्तम, अष्टम और नवम प्रपाठकों को मिलाकर तैत्तिरीय उपनिषद् सम्पन्न हो जाती है। दशम प्रपाठक की प्रसिद्धि महानारायणीय उपनिषद् के रूप में है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से मूल आरण्यक छः प्रपाठकों में ही है। प्रपाठकों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों में है। प्रथम छः प्रपाठकों की अनुवाक-संख्या इस प्रकार है- ३२+२०+२१+४२+१२+१२=१३९। प्रथम प्रपाठक में आरुणकेतुक नामक अग्नि की उपासना तथा तदर्थ इष्टिकाचयन का निरूपण है। द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पञ्चमहायज्ञों का वर्णन है। इसी प्रसंग में सर्वप्रथम यज्ञोपवीत का विधान है। द्वितीय अनुवाक में सन्ध्योपासन विधि है। इस प्रपाठक के अनेक अनुवाकों में कूष्माण्डहोम और उससे सम्बद्ध मन्त्र प्रदत्त हैं। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ संज्ञक पाँच महायज्ञों के दैनिक अनुष्ठान का निर्देश है- **पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति सन्तिष्ठन्ते।** देवयज्ञ का अभिप्राय है अग्नि में होम। यदि पुरोडाशादि उपलब्ध न हों, तो केवल समिधाओं से होम कर देना चाहिए। पितरों के लिए स्वधा तथा वायस आदि के निमित्त बलिहरण क्रमशः पितृयज्ञ तथा भूतयज्ञ हैं। एक ही ऋक् या साम के अध्ययन से स्वाध्याय यज्ञ सम्पन्न हो जाता है। ११वें अनुवाक में ब्रह्मयज्ञ की विधि दी गई है।

तृतीय और चतुर्थ प्रपाठकों में क्रमशः चातुर्होत्रविधि तथा प्रवर्ग्यहोम में उपादेय मन्त्र संगृहीत हैं। चतुर्थ में ही अभिचार मन्त्रों (छिन्धि, भिन्धि, खट्, फट्, जहि) का उल्लेख है। पञ्चम प्रपाठक में यज्ञीय संकेत हैं। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेधसम्बन्धी मन्त्र संकलित हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के समान इसमें कहीं-कहीं निर्वचन भी मिलते हैं। कश्यप का अर्थ है- सूर्य। इसे वर्ण-व्यत्यय के आधार पर पश्यक से निष्पन्न माना गया है- **कश्यपः पश्यको भवति। यत्सर्वं परिपश्यति इति सौक्ष्म्यात्** (१.८.८)।

५. तवल्कार आरण्यक

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण की प्रसिद्धि सामवेदीय तवल्कार-आरण्यक के रूप में है, यह पहले कहा जा चुका है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। अध्यायों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों में है। इसका विशेष महत्त्व पुरातन भाषा, शब्दावली, वैयाकरणिक रूपों और ऐसे ऐतिहासिक तथा देवशास्त्रीय आख्यानों के कारण है, जिनमें बहुविध प्राचीन विश्वास तथा रीतियाँ सुरक्षित हैं। इस आरण्यक में मृत व्यक्तियों के पुनः प्रकट होने तथा प्रेतात्मा के द्वारा उन व्यक्तियों के मार्ग-निर्देश का उल्लेख है, जो रहस्यात्मक शक्तियों के लिए पुरोहितों अथवा साधकों के सन्धान में निरत थे। निशीथ (अर्द्धरात्रि) में श्मशान साधना से सम्बद्ध उन कृत्यों का उल्लेख है, जो अतिमानवीय शक्ति पाने के लिए चिता-भस्म के समीप अनुष्ठेय हैं।

आरण्यक के संस्करण तथा उन पर हुए शोधकार्य-

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में आरण्यकों की समीक्षा अतिस्वल्प हुई है। जो भी कार्य हुआ है, उसका विवरण इस प्रकार है-

१.ऐतरेय-आरण्यक सायण-भाष्यसहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में पूना से १८९८ में प्रकाशित।

२.ऐतरेय-आरण्यक (अंग्रेजी अनुवाद)- अनुवादक प्रो० ए.बी. कीथ, लन्दन, सन् १९०९ में प्रकाशित।

३.ऐतरेय-आरण्यकः एक अध्ययन- डा० सुमनशर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से सन् १९८१ में प्रकाशित।

४. शांखायन-आरण्यक, सं.श्रीधरशास्त्री पाठक, आनन्दाश्रम पूना से १९२२ में प्रकाशित।

५. तैत्तिरीयारण्यक, सायण-भाष्यसहित, आनन्दाश्रम, पूना से १९२६ ई. में प्रकाशित।

६. बृहदारण्यक-गीताप्रेस, आनन्दाश्रम इत्यादि से अनेकधा प्रकाशित।

७. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण-तवल्कार आरण्यक-

(क) सं. डा० रघुवीर तथा लोकेशचन्द्र, नागपुर से १९५४ में प्रकाशित।

(ख) सं. रामदेव, लाहौर से १९२१ ई. में प्रकाशित।

(ग) सं. बी.आर. शर्मा, तिरुपति से १९६७ में प्रकाशित।

❑

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

तैत्तिरीय आरण्यक में ब्रह्मयज्ञ

प्रो० सोमदेव शतांशु[1]

तैत्तिरीय आरण्यक कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण का परिशिष्ट भाग है। इस आरण्यक में दस प्रपाठक हैं। आरण्यक-ग्रन्थों में आत्मा-परमात्मा तथा कर्मकाण्ड के विषय को रहस्यात्मक दृष्टान्तों या रूपकों के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन के रुप में प्रस्तुत किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक के द्वितीय प्रपाठक में पञ्चमहायज्ञों का वर्णन किया गया है। इस शोध-लेख में द्वितीय प्रपाठकगत ब्रह्मयज्ञ-सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों का प्रतिपादन किया जा रहा है। गृहस्थ के लिए प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञों की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है। तैत्तिरीय आरण्यक में आदिष्ट है कि पञ्चमहायज्ञ प्रतिदिन प्रारम्भ किए जाते हैं तथा प्रतिदिन उनका समापन किया जाता है।[2]

द्वित्तीय प्रपाठक का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ के वर्णन से प्रारम्भ होता है, अतः इसका नाम स्वाध्याय ब्राह्मण भी है। पहले स्वाध्याय के अंगभूत यज्ञोपवीत की महत्ता एक उपाख्यान के माध्यम से प्रदर्शित की गई है, जिसका सार इस प्रकार है- देव एवं असुरों ने प्रतिस्पर्धा से सर्वप्रथम स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए साथ-साथ यज्ञ प्रारम्भ किया, असुरों ने शास्त्र-विधि के बिना केवल बाहुबल से यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। देवों ने शास्त्रविधि का अनुसरण करते हुए तप एवं ब्रह्मचर्य के अनुष्ठानपूर्वक यज्ञोपवीत धारण करके यज्ञानुष्ठान किया। कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान से रहित असुर परास्त हुए तथा शास्त्रानुगामी देवों ने विजयी होकर स्वर्ग लोक को प्राप्त किया।[3] यज्ञोपवीती व्यक्ति का यज्ञ अधिक गुणयुक्त होने से प्रसृत अर्थात्प्रकृष्ट कहलाता है तथा जो यज्ञोपवीत को न धारण करके यज्ञ करते हैं, उनका यज्ञ अप्रकृष्ट होता है।[4] यज्ञोपवीती ब्राह्मण जो कुछ भी अध्ययन करता है, वह यज्ञानुष्ठान तुल्य

---

[1] संस्कृत विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

[2] पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठन्ते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयत्र इति। तैत्तिरीय आरण्यक २.१०.१

[3] वही, २.१.२

[4] प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽपसृतोऽनुपवीतिनो यत्किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजत एव तत् इति। वही २.१.३

होता है। अतः यागादि की प्रतिष्ठा के लिए यज्ञोपवीत धारण करके ही यज्ञानुष्ठान करे।[5] यज्ञोपवीत कार्पास आदि से निर्मित होना चाहिए। बाएं कंधे पर धृत यज्ञोपवीत, दक्षिण स्कन्ध पर धृत प्राचीनावीत तथा दोनों भुजाओं के मध्य धृत संवीत कहलाता है।[6] यज्ञोपवीतविषयक उक्त आख्यान का यही मर्म प्रतीत होता है कि यज्ञोपवीत शास्त्रीय मर्यादाओं तथा कर्त्तव्यों का प्रतीक सूत्र है। उन कर्तव्य एवं मर्यादाओं का अनुपालन करते हुए यदि हम स्वाध्याय आदि यज्ञों का अनुष्ठान करेंगे, तभी हमको यज्ञीय अभीष्ट फलों की प्राप्ति होगी। शास्त्रविधि परित्यागपूर्वक किया गया यज्ञ असुरों के तुल्य पराभव कारक ही होगा। गीता में भी यही अनुमोदित है।[7]

सृष्टि के प्रारम्भ में तपस्या करते हुए विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषियों ने परमात्मा की कृपा से स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ का दर्शन किया तथा उससे देवताओं का आराधन किया।[8] **"सुष्ठु आवृत्य अध्यायः वेदाध्ययनमिति"** इस विग्रह से सु और अधि पूर्वक इङ् धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय की योजना करने पर स्वाध्याय शब्द निर्मित होता है। पारस्कर गृह्यसूत्र में भी श्रुतिजप अर्थात् वेदाध्ययन को ही ब्रह्मयज्ञ कहा गया है।[9] यही तथ्य याज्ञवल्क्यस्मृति में भी प्रतिपादित है।[10]

मनुस्मृति में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ- ये पाँच प्रकार के स्मार्त्त यज्ञ प्रतिपादित हैं। किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता में[11] देव, पितृ, भूत और मनुष्य संज्ञक उक्त स्मार्त्त यज्ञों से पृथक् रूप में ब्रह्मयज्ञ को स्वाध्याय पद से विशेष रूप से अभिहित किया गया है। इस पार्थक्य से विदित होता है कि स्वाध्यायरूपी ब्रह्मयज्ञ केवल गृहस्थ का ही धर्म नहीं, वरन् ब्रह्मचारी का भी धर्म है।

---

[5] वही२ ,.१.४

[6] वही२ ,.१.५

[7] यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। गीता १६.२३

[8] वही२ ,.९.१

[9] यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः। पारस्कर गृह्यसूत्र २.९.१

[10] वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति १.१०१

[11] श्रीमद्भगवद्गीता १६.१

स्वाध्याय का यज्ञत्व सिद्ध करते हुए कहा गया है कि ऋग्वेद की ऋचाओं का स्वाध्याय देवों के लिए दुग्धाहुति, यजुर्वेद का स्वाध्याय घृताहुति, साम का स्वाध्याय सोमाहुति तथा अथर्व का स्वाध्याय मधु आहुतितुल्य तर्पण कारक होता है। संध्योपासना ब्रह्मयज्ञ का महत्त्व बताने के लिए एक आख्यान उपस्थापित किया गया है- पूर्वकाल में राक्षसों के उग्र तप से प्रसन्न होकर प्रजापति ने उनसे वर मांगने के लिए कहा। दैत्यों ने वर माँगा कि आदित्य हमारा योद्धा हो। एतदर्थ राक्षसगण सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त पर्यन्त आदित्य से युद्धरत रहते हैं। सूर्यास्त के समय युद्धरत राक्षस गायत्रीमन्त्र से अभिमन्त्रित जल से शान्त होते हैं। अतः ब्रह्मवादी लोग प्रातः संध्या में पूर्वाभिमुख होकर गायत्री मन्त्रपूत जल को ऊपर अभिषिञ्चित करते हैं। ये जलकण वज्ररूप होकर इन सन्देह नामक राक्षसों को अरुण नामक द्वीप पर स्थापित कर आदित्य को युद्धमुक्त करते हैं।[12] जो वेदज्ञ उदित एवं अस्त होते आदित्य का ध्यान तथा प्रदक्षिणा करते हैं, वे सर्वविध कल्याण को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह स्वानुभव से ब्रह्मयज्ञ होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है-

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन्कुर्वन्ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुतेऽसावादित्यो ब्रह्मेति। तै०आ०२.२.४

ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद इति। तै०आ०२.५.२

उक्त आख्यान में आदित्य प्रकाश, ज्ञान एवं ब्रह्म का प्रतीक है। राक्षस अन्धकार एवं तामसिक वृत्तियों के प्रतीक हैं। ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड में प्रकाश एवं अन्धकार का तथा सात्विक एवं तामसिक वृत्तियों का जो सतत युद्ध प्रवर्तमान है, इस द्वन्द्व को ही यह आख्यायिका संकेतित कर रही है। ब्रह्ममुहूर्त्त में वेदमाता गायत्री की उपासना से ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म के ध्यान से अज्ञान एवं तामसीवृत्ति रूप राक्षसों का विनाश कर ब्रह्म तथा सर्वविध कल्याणप्राप्ति संभव है। जैसा कि विदित है तैत्तिरीय आरण्यक कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मणभाग है। अर्थवाद ब्राह्मणग्रन्थों का एक मुख्य अंग है, जिसमें कर्त्तव्यकर्मों की स्तुति एवं त्याज्यकर्मों की निन्दा प्रतिपादन हेतु अनेक रहस्यों का आख्यानों के माध्यम से वर्णन किया गया है। आरण्यकों एवं ब्राह्मणग्रन्थों के आख्यानों का यही स्वरूप है।

ब्रह्मयज्ञविधि

---

[12] वही, २.२.२

इस विषय में तैत्तिरीय आरण्यक में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्मयज्ञकर्त्ता को ग्राम-नगर से दूर, जहाँ घरों के ऊपर के छत न दिखाई दें, पूर्व, उत्तर अथवा ईशानकोण में शुद्ध स्थान पर कुशासन पर बैठकर यज्ञोपवीती होकर हस्तप्रक्षालन के पश्चात् तीन बार आचमन करना चाहिए। पुनः हाथ शुद्ध कर ओष्ठ, नेत्र, नासिका, हृदय आदि अंगों का स्पर्श कर पूर्वाभिमुख हो स्वाध्याय करना चाहिए।[13] पवित्री धारण कर दोनों हाथों को दोनों पैरों के ऊपर स्थापित कर प्रणव उच्चारण करना चाहिए। ओंकार वेदत्रयी का प्रतिनिधि है। परमवाणी तथा परमवेद परमात्मस्वरूप है।[14] समस्त ऋचाएँ, सभी देव इस परम रक्षक ओंकार में ही अधिष्ठित हैं। जो इसको जानता है, परमात्मा की समीपता को प्राप्त होता है।[15] इसीलिये इस ओंकार संज्ञक परमात्मा की उपासना के सन्दर्भ में मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि यह प्रणव ही धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। उसका सावधानीपूर्वक बोधन करना चाहिए और बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए।[16] आचमन, अंगस्पर्श आदि की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इससे वेद संहिता, ब्राह्मण, इतिहास, कल्प आदि प्रसन्न होते हैं।[17] कुश को जल औषधियों एवं वनस्पतियों का सार कहा है, अतः कुशासन पर बैठकर स्वाध्याय करने से वेद सारयुक्त होते हैं।[18]

प्रणवोच्चारण के पश्चात् भूर्भुवः स्वः तीन महाव्याहृतियों का उच्चारण कर तीन बार गायत्री मन्त्र का पहले एक-एक पाद का, पुनः आधी ऋचा का, तदनन्तर सम्पूर्ण ऋचा का पाठ करना चाहिए।[19] सावित्री मन्त्र के पश्चात् वेद भाग का अध्ययन करना चाहिए तथा अगले दिन क्रमशः आगे का पाठ करना चाहिए।[20] सावित्रीमन्त्रगत सवितृदेव श्री को प्रेरित करने वाले हैं, अतः इसके पाठ से उपासक श्रीसम्पन्न होता है-

---

[13] तैत्तिरीय आरण्यक २.११.२,४

[14] वहीए २.११.५

[15] ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुर्यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ वही, २.११.६ पर उद्धृत (ऋग्वेद १.१६४.३९)

[16] प्रणवो धनुः शरो ह्यात्म ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ मुण्डकोप० २.२.४

[17] वही, २.११.२

[18] वही, २.११.४

[19] वही, २.११.७

[20] वही, २.११.८

सविता श्रियः प्रसविता श्रियमेवाऽऽप्नोति। तै०आ०२.११.८

अन्यत्र भी वेदमन्त्रों में यह तथ्य परिपोषित है-

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तामायुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। अथर्ववेद १९.७.१

तैत्तिरीय आरण्यक में उक्त विधान में अनुकल्प भी दिया गया है, जो अध्येता असमर्थ हो, वह नगर, ग्राम में भी किसी समय खड़े, बैठ, चलते, लेटे हुए मन में स्वाध्याय कर सकता है।[21] सार यह है कि किसी भी रूप में स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय को छोड़ना नहीं चाहिए। स्वाध्यायशील पुरुष पुण्यभागी होता है-

पुण्यो भवति य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते। तै०आ०२.१२.३

मध्याह्नकाल में स्वाध्याय उच्च ध्वनि से करना चाहिए, इससे स्वाध्यायी ब्राह्मण आदित्यरूप हो आदित्य को प्राप्त करने योग्य होता है।[22] स्वाध्याय प्रातःकाल आरम्भ होता है तथा सायंकाल इसका समापन होता है- **नमो ब्रह्मणे नमो अस्त्वग्नये नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः। नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे बृहते करोमि** (तै०आ०२.१२.४)।

इस मन्त्र का पाठकर जलस्पर्श कर स्वाध्याय का समापन करना चाहिए तथा घर लौटकर कुछ दान देना चाहिए, यह ब्रह्मयज्ञ की दक्षिणा होती है- **अप उपस्पृश्य गृहानेति नतो यत्किञ्चिद्ददाति सा दक्षिणा इति** (तै०आ०२.१३.५)।

वर्षा, विद्युत्, स्फुरण, तीव्रवात्या, अमावास्या आदि में स्वाध्याय न करने का विधान है तथा इनको ब्रह्मयज्ञ के विविध अंगों के रूप में प्रतिपादित किया है।[23]

ब्रह्मयज्ञ का फल

ब्रह्मयज्ञ करने वाला मृत्यु पश्चात् उत्तम लोकों को प्राप्त होता है। सजातियों में प्रतिष्ठित होता है। जितनी भूमि आदि दान करता है, उतने सुख स्वर्गादि लोक में प्राप्त करता है। जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर परमात्मा के सामीप्य अथवा सरूपता को प्राप्त करता है-

उत्तमं नाकं रोहत्युत्तमः समानानां भवति यावन्तं ह वा इमां वित्तस्य पूर्णां ददत्स्वर्गं लोकं जयति तावन्तं लोकं जयति भूयांसं चाक्षय्यं चाप पुनर्मृत्युं जयति ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छति इति (तै०आ०२.१४.३)।

---

[21] वही, १.१२.१ तथा २.१२.३

[22] वही, २.१२.४

[23] वही, २.१४.१

योगदर्शनकार ने भी यही कहा है कि स्वाध्याय के सिद्ध होने से इष्टदेव परमात्मा का दर्शन होता है।[24] सायंकालीन सन्ध्योपासना के पश्चात् अथवा सभी यागों के आरम्भ में ब्रह्मोपस्थापन के लिए "**भूः प्रपद्ये, भुवः प्रपद्ये, स्वः प्रपद्ये**"[25] इस मन्त्र का पाठ किया जाता है, जिसका भाव है- मैं तीनों लोकों, परमात्मा, ब्रह्मलोक, कारणस्वरूप विराट्, पञ्चकोशों तथा देवताओं को प्राप्त करता हूँ। मैं कवचरूप परमात्मा से बार-बार वेष्टित तथा सर्वसाक्षीरूप कश्यप परमात्मा के तेज से सर्वतः परिवेष्टित हूँ।

ब्रह्मोपस्थापन के समय सर्वात्मक परमात्मा के शिशुमार नामक जलग्रः रूप के ध्यान का विधान है। शिशुमार के विभिन्न अंगों में ब्रह्मा, यज्ञ, विष्णु आदि दैवीय शक्तियों के अधिष्ठान का वर्णन है। जो शिशुमार के इस स्वरूप को समझता है, उसकी अपमृत्यु नहीं होती है। वह अग्नि, जल आदि से भी नहीं मरता तथा सन्तानविहीन नहीं होता।[26] शिशुमार ध्यान के पश्चात्दिगुपस्थान में प्राच्यादि दिशाओं के अधिष्ठित देवताओं को नमन किया गया है।[27] तदनन्तर मन्यूपस्थान में गंगा-यमुना मध्य निवासी मुनियों को प्रणाम का विधान है।[28] ध्यातव्य है कि स्वामी दयानन्द ने भी पञ्चमहायज्ञविधि की व्याख्या में आचमन, अघमर्षण, सावित्र्युपासना के मन्त्रों के साथ दिगुपस्थान में प्राच्यादि दिशाओं के अधिष्ठित देवताओं की मानस परिक्रमा सम्बद्ध मन्त्र आदि को ब्रह्मयज्ञ के रूप में उपस्थापित किया है।

इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ के समस्त विधान जीवन में समग्र ऐश्वर्य प्राप्ति तथा ब्रह्मप्राप्ति के साधन हैं। नगर-ग्राम से दूर नदी या सरोवर के समीप संध्यावन्दन मन की प्रसन्नता तथा एकाग्रता का साधन है। जब समाज के श्रेष्ठ लोग प्रातःकाल संध्योपासना के लिए नगर-ग्राम से बाहर जायेंगे तो उससे अन्य लोग भी अध्यात्ममार्ग में चलने के लिए प्रेरित होंगे। राजा, विप्र, ग्रामणी आदि को ग्राम-नगर में तथा अरण्य में क्या घटित हो रहा है? इसकी जानकारी होगी। परस्पर दर्शन आदि से समाज में सौहार्द एवं प्रेम की स्थापना होगी। प्रातःभ्रमण से सुस्वास्थ्य की सहज प्राप्ति होगी। यह सब तो संध्याविधि के गौण लाभ हैं। परमात्मा की उपासना तथा गायत्री आदि वेद मन्त्रों के स्वाध्याय से ब्रह्मज्ञान की तथा त्रितापनाशक, सर्वानन्दप्रद ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति ब्रह्मयज्ञ का परम लक्ष्य है।

❑

---

[24] पातञ्जलयोगदर्शनम् २.४४

[25] वही, २.१९.१

[26] वही, २.१९.३,४

[27] वही, २.२०.१

[28] वही, २.२०.६

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

तैत्तिरीयारण्यकाभिमत ब्रह्मयज्ञमीमांसा

डा० प्रयागनारायण मिश्र[1]

भारतीय धर्म और संस्कृति के समुज्ज्वल आलोक की स्निग्ध रश्मियाँ सृष्ट्यारम्भ से ही सम्पूर्ण मानवता को ऊर्जस्वित तथा आलोकित करती रही हैं। भारतीय धर्म और संस्कृति के मूल में अखिल विश्व के आद्यज्ञान कोश के रूप में सर्वज्ञानमय वेदों की प्रतिष्ठा सर्वविदित है। नित्य तथा अपौरुषेय वेदों में निहित ज्ञानविज्ञान के अनेक दार्शनिक आध्यात्मिक सिद्धान्तों की विशद विवेचना तथा लोकोपयोगिता की दृष्टि से कालान्तर में ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् आदि के द्वारा वैदिक रहस्यों के समुद्घाटन तथा लोकप्रकाशन की शाश्वत परम्परा सर्वजनगम्य है। इसीलिए **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।**[2] अथवा **कस्मै देवाय हविषा विधेम**[3] इत्यादि रूपों में यज्ञपदवाच्य जिस कर्म का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है, उसका सम्पादन करते हुए ही **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:**[4] कह सौ वर्षों तक जीवित रहने की कामना करने का निर्देश यजुर्वेद में किया गया है। यज्ञ की इसी अप्रतिम महत्ता तथा इयत्ता के कारण ही **यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभि:**[5] कहकर वेदों में यज्ञ को परिभाषित किया गया है। अखिलभुवनाश्रयभूत यज्ञों का प्रतिपादन ही वेदों का परम प्रयोजन बताते हुए "**वेदास्तावत्यज्ञकर्मप्रवृत्ता:**[6] अथवा **वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता:**[7] कहकर ज्योतिषवेदांग में ज्योतिष को जिस यज्ञकाल का साधक बताया गया है, वही यज्ञ वैदिक काल का प्रधानकर्म है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण

---

[1] **आचार्य, संस्कृत विभाग, ल०वि०वि० लखनऊ, उ०प्र०**

[2] ऋग्वेद १०.९०.१६

[3] तदेव

[4] यजुर्वेद ४०.२

[5] अथर्ववेद ९.१०.१४

[6] सिद्धान्तशिरोमणि, मध्यमाधिकार ९

[7] वेदांग ज्योतिष ३

के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है- **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।**[8] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसी अभिमत को यथावत् स्वीकार किया गया है।[9] वेदों की यज्ञपरकव्याख्या करने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों में निरूपित वैदिकयज्ञों में पञ्चमहायज्ञों का विशिष्ट स्थान है। प्रकृति-विकृति, पाक-हवि-सोम, नित्य-नैमित्तक-काम्य आदि विविधविध भेद-प्रभेदों से जिन अनेक प्रकार के यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है, उनमें गृहस्थाश्रम जनसामान्य के सहित प्रायः समस्त आश्रमवासियों द्वारा अवश्यमेव सम्पाद्य पञ्चमहायज्ञों की परम्परा सर्वसम्मत हैं। इन पञ्चमहायज्ञों का नामतः समुल्लेख शतपथब्राह्मण में इस रूप में मिलता है-

पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि देवयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।[10]

याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका में विश्वरूप ने भी अपने मत की पुष्टि में शतपथ ब्राह्मण के इसी उद्धरण को उद्धृत किया है।[11] आश्वलायनगृह्यसूत्र में शतपथ ब्राह्मणोक्त इन पञ्च महायज्ञों को पञ्चमहायज्ञों के रूप में कतिपय व्युत्क्रमपूर्व प्रस्तुत करके इन पञ्चमहायज्ञों का मूल तैत्तिरीयारण्यक को ही स्वीकार किया गया है- **अथातः पञ्चयज्ञाः। देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।**[12] **पञ्चयज्ञानां हि तैत्तिरीयारण्यकं मूलं पञ्च वा एते महायज्ञाः।**[13]

आश्वालायनगृह्यसूत्रोक्त प्रस्तुत सूत्रों की व्याख्या में नारायण एवं पराशरमाधवीय ने तैत्तिरीय आरण्यक को ही पञ्चमहायज्ञों का मौलिक आधार स्वीकार किया है।[14] तैत्तिरीय आरण्यक में महायज्ञ के रूप में आद्यत्वेन उल्लिखित इन्हीं यज्ञों को शतपथ-ब्राह्मण में महासूत्र के रूप में स्वीकृति प्रदान करने की स्वस्थ परम्परा अनेक धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में

---

[8] शतपथ ब्राह्मण १.७.१.५

[9] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.२.१.४

[10] शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.७

[11] याज्ञवल्क्य स्मृति १.१.१

[12] आश्वलायनगृह्यसूत्र ३.१.१-२

[13] धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ० ३८३

[14] पाराशरमाधवीय १.१ पृ० ११

द्रष्टव्य है।[15] प्राचीन धर्मसूत्रों में आपस्तम्ब धर्मसूत्र में प्रतिदिन सम्पाद्य बताया गया है- **अथ ब्राह्मणोक्तविधय:। तेषां महायज्ञा महासूत्राणि च संस्तुति:। अहरहभूतबलिर्मनुष्येभ्यो यथाशक्तिदानम्। देवेभ्य: स्वाहाकार आकाष्ठात् पितृभ्य स्वधाकार ओदपात्रादृषिभ्य: स्वाध्याय:।**[16]

धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार इस पृथिवी पर जन्म लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति देव, ऋषि तथा पितृ ऋण संज्ञक ऋणत्रय से युक्त होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करके व्यक्ति ऋषि ऋण से, यज्ञ करके देव ऋण से तथा सन्तानोपत्ति करके पितृऋण से मुक्त होता है जैसा कि तैत्तिरीयसंहिता में प्रोक्त है-

जायमानो हि ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् भवति। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य: प्रजया पितृभ्य:।[17]

श्रीमद्भागवतपुराणसहित अनेक स्मृतियों में इस अभिमत का यथोचित उपबृंहण किया गया है।[18] यदि सूक्ष्म अवलोकन किया जाय तो प्रस्तुत ऋणत्रय से एक साथ मुक्ति का परम विधान ही पञ्चमहायज्ञों का परम प्रयोजन है। ऋणत्रय की प्रकाममुक्ति को कामनापूर्ति हेतु अहर्निश किये जाने वाले दैनिक कार्यों से लगने वाले पापों से मुक्ति आवश्यक है। यह मुक्ति पञ्चमहायज्ञों से ही सम्भव है, जैसा कि प्रोक्त है-

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेक्षण्युपस्कर:।
कुण्डनीचोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु बाह्यान्।।
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभि:।
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञा: प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।।[19]

विष्णुधर्मसूत्र तथा मत्स्यपुराण आदि अन्य ग्रन्थों में भी पञ्चमहायज्ञों के इन्हीं प्रयोजनों का उल्लेख प्राप्त होता है।[20] मनुस्मृति में इन पाँचों महायज्ञों का संक्षिप्त तथा

---

[15] बौधायनधर्मसूत्र २.६.१-८, गोभिलस्मृति २.१६

[16] आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.४.१२.१३

[17] तैत्तिरीय संहिता ३.१०.५

[18] श्रीमद्भागवत्पुराण १०.८४.४१

[19] मनुस्मृति ३.६८.६९

सारगर्भित स्वरूप निरूपणपूर्वक शतपथब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक की भाँति ही इनका स्पष्ट नाम निर्देश किया गया है-

अध्ययनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥[21]

मनुस्मृति में अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत तथा प्रशित नाम से इनका प्रकाशान्तर से कथन भी किया गया है-

जयोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्रयार्चा प्राशितं पितृतर्पणम्॥[22]

मनुस्मृति में प्रकारान्तर से प्रोक्त इन अपर नामों का मौलिक उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है-

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥[23]

शांखायन गृह्यसूत्र[24] तथा पारस्करगृह्यसूत्र में मनुप्रोक्त ब्राह्महुत को छोडकर अन्य चार को पाकयज्ञ के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसे अथर्ववेदोक्त अभिमत का कल्पसूत्रोक्त प्रमाण माना जा सकता है-

चत्वारः पाकयज्ञाः हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति।[25]

पारस्करगृह्यसूत्र में अन्यत्र पारम्परिक रूप में पञ्चमहायज्ञों का निरुपण करके जिस रूप में पञ्चमहायज्ञों को प्रस्तुत किया गया है,[26] उससे स्पष्ट है कि शेष चार यज्ञों के साथ

---

[20] विष्णुधर्मसूत्र ५९.१९.२०, मत्स्यपुराण ५२.१५.१६

[21] मनुस्मृति ३.६०

[22] तदेव ३.६४

[23] अथर्ववेद ६.६३.२

[24] शांखायनगृह्यसूत्र १.५

[25] पारस्करगृह्यसूत्र १.४.१

[26] तदेव २.९.१

ब्रह्मयज्ञ की विलक्षणता निरापद है। यतो हि ब्रह्मयज्ञेतर यज्ञचतुष्टय का सम्बन्ध स्वाहा स्वधा बलिवैश्वदेव तथा आतिथ्यसत्कार से सम्बद्ध अन्न जलादि विषयक नित्यकर्म से है जबकि इन सबका आधार तथा मौलिक श्रेय तो ब्रह्मयज्ञ का ही है क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् में शिष्योपदेश की दीक्षा परम्परा में **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव** के साथ **स्वाध्यायान्मा प्रमदः**[27] का जो निर्देश किया गया है, उसमें विनिर्दिष्ट यह स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है क्योंकि श्रुति ब्रह्मयज्ञ का निर्देश **अहरहः स्वाध्यायमधीते**[28] कहकर ही करती है। जिन वेदों तथा वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने का नाम स्वाध्याय रूप ब्रह्मयज्ञ है। वह स्वयं वेदस्वरूप है। आचार्य जैमिनिकृत मीमांसासूत्रों के साथ **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**[29] इत्यादि का निर्देश ब्रह्मयज्ञ ही है। ब्रह्मयज्ञ विषयक प्राचीनतम स्रोतान्वेषण के क्रम में तैत्तिरीयारण्यक के साथ-साथ शतपथब्राह्मण भी आद्यप्रमाणत्वेन अङ्गीकार्य है क्योंकि इन ग्रन्थों का पौर्वापर्य स्वयं में ही अनुसन्धान का विषय है। तैत्तिरीय आरण्यक में **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** इत्यादिरूपों में जिस नित्य यज्ञकर्म का प्रचुर प्रचोदन किया गया है,[30] उसे ही शतपथब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ के रूप में प्रस्तुत करके भले ही ब्रह्मयज्ञ का उल्लेख पञ्चमहायज्ञों में सबसे बाद में किया गया है परन्तु यह प्रथम यज्ञ ही है क्योंकि क्रमप्राप्त सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुसेवा, अग्निहोत्रपूर्वक वेदाध्ययनरूप स्वाध्याय ही करता है। आचार्य मनु ने **अध्ययनं ब्रह्मयज्ञः** कहकर इसीलिए इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है। शतपथब्राह्मण में वेदों के अतिरिक्त वेदांग, सर्प एवं देवजन, विद्या, ब्रह्मोद्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी के अध्ययन का भी विधान किया गया है।[31] ब्रह्मयज्ञ के रूप में स्वाध्याय के अन्तर्गत ग्रहण किये जाने वाले विषयों में अथर्वाङ्गिरस, ब्राह्मण-ग्रन्थ, इतिहास, पुराण आदि के साथ अन्य विषयों का पाठ भी ब्रह्मयज्ञ में विहित है।[32] शतपथ-ब्राह्मण, तैत्तिरीय-आरण्यक,

---

[27] तैत्तिरीय आरण्यक २.१५.६

[28] शतपथ ब्राह्मण १५.५.६.१

[29] मीमांसासूत्र

[30] तैत्तिरीयारण्यक २.१५.६

[31] शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.८

[32] तैत्तिरीयारण्यक २.१०-१३

आश्वलायनगृह्यसूत्र आदि में निरूपित अध्येतव्य शास्त्रों का प्रवचन स्मृति ग्रन्थों में भी किया गया है। यथा-

वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञं प्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्।।[33]

इसी प्रकार उपर्युक्त ग्रन्थों में ब्रह्मयज्ञ की विस्तृत विधि भी बतायी गई है। इसी सविस्तार निरूपित विधि का आश्रय लेकर पारस्कर गृह्यसूत्र के गदाधरभाष्य में ब्रह्मयज्ञ के संक्षिप्त सारगम्य स्वरूप निर्देश के साथ अधोलिखित रूप में उसका प्रवचन किया गया है-

यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः।[34]

यहीं पर ब्रह्मयज्ञ की संक्षिप्त विधि का निरूपण करते हुए प्रोक्त है-

बद्धांजलिदर्भपाणिः प्राङ्मुखस्तु कुशासनः।
वामाङ्घ्रिमुत्तमं कृत्वा दक्षिणं तु तथा करन्।।
दक्षिणे जानुनि करोत्यञ्जलिं तमृषेर्महान्।
गायत्रीं चानुपूर्वेण विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्।।
ओ३म् स्वस्ति ब्रह्मयज्ञान्ते प्रोक्ता दर्भान् क्षिपेदुदक्।
वेदादिकमुपक्रम्य यावद्वेदसमापनम्।
आध्यात्मिकाऽथवा विद्या ऋग्यजुः साम एव च।।[35]

तैत्तिरीयारण्यक में ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत ग्राह्य तत्तद् विषयों का अध्ययन करने से प्राप्त होने वाले फलों का भी निरूपण किया गया है। ब्रह्मयज्ञ से होने वाले फलों में दीर्घायु की प्राप्ति, तेज, यश, समृद्धि तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष प्रमुख हैं।[36] तैत्तिरीय आरण्यक में ब्रह्मयज्ञ करने के स्थल तथा काल का भी विधिपूर्वक प्रवचन किया गया है। यथा- **ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामादच्छदिर्दर्श उदीच्यां प्रागुदीच्यां वोदित आदित्ये**

---

[33] याज्ञवल्क्य स्मृति १.१०१

[34] पारस्करगृह्यसूत्र २.९.१ गदाधरभाष्य

[35] तत्रैव गदाधरभाष्य १४१

[36] तैत्तिरीयारण्यक २.१३

दक्षिणत उपवीयोपविश्य ....दर्भाणां महदुपस्तीर्योपस्थं कृत्वा दक्षिणतोत्तरौ पाणी पादौ कृत्वा स्वाध्यायमधीयीत।[37]

धर्मशास्त्र के इतिहास में तैत्तिरीयारण्यक में प्रोक्त इस विस्तृत विधान का सम्यक् निरूपण द्रष्टव्य है। तैत्तिरीयारण्यक के अनुसार ब्रह्मयज्ञ का सम्पादन घर से बाहर पूर्व, उत्तर या ईशान दिशा में दूर जाकर ब्राह्ममुहूर्त में करना चाहिए। यथोक्त विधि, आसन तथा मुद्रापूर्वक प्रणव तथा व्याहृति का उच्चारण करके यथासम्भव वेदचतुष्टय, वेदत्रयी, वेदद्वय, एकमात्र या वेदांश विशेष का पाठ करके अन्त में अधोलिखित मन्त्र का तीन बार पाठ करे- **नमो ब्रह्मणे नमः स्वग्नये नमः पृथिव्यै नमः ओषधीभ्यः। नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे बृहते करोमि।।**[38]

प्रस्तुत मन्त्रोच्चारणपूर्वक सम्पूर्ण कृत्य परम अधिष्ठातृदेव सर्वव्यापक विष्णु को समर्पित करके आचमनपूर्वक घर वापस आने का विधान है। घर से बाहर जा सकने की असमर्थता की स्थिति में घर पर ही किसी भी समय ब्रह्मयज्ञ सम्पादन का वैकल्पिक विधान तैत्तिरीय आरण्यक तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में किया गया है- **ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं वा इति ह स्मा आह शौच आह्नेयः उतारण्येऽबत उत वाचोत तिष्ठन्नुत व्रजन्नुत आसीन उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्यायं तपस्वी पुण्यो भवति।**[39]

अर्थात् अशक्त हों तो घर पर ही रहकर दिन और रात दोनों समय मानसिक पाठ कर सकते हैं। सशक्त हों तो अरण्य में बैठकर, भ्रमण करते हुए किसी भी स्वर-नाद से वेदपाठ करने का संकेत मिलता है। **मध्याह्ने प्रबलमधीयीत** के रूप में प्रोक्त स्वाध्याय विधि से मध्याह्न में भी वेदाध्ययन के विधान के साथ ही उच्चस्वर प्रयोग का संकेत भी प्राप्त होता है। स्वाध्याय रूप ब्रह्मयज्ञ से प्राप्त होने वाले अजस्र फल का प्रवचन भी तैत्तिरीय आरण्यक में

---

[37] तदेव २.११

[38] तदेव २.१३

[39] तदेव २.१२

किया गया है- **य एवं विद्वान् महारात्र उषस्युदिते व्रजॅस्तिष्ठन्नासीनः शयानोऽरण्ये ग्रामे वा यावत्तरसं स्वाध्यायमधीते सर्वाल्लोकां जयति सर्वांल्लोकाननृणोऽनुसञ्चरति।**[40] शतपथब्राह्मण में भी स्वाध्याय का फल प्रोक्त है-

यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत्, लोकं जयति त्रिभिस्तावन्तं जयति भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते।[41]

आचार्य मनु ने स्वाध्याय से अनेक लौकिक फलों का कथन भी किया है।[42] तैत्तिरीय आरण्यक में प्रोक्त स्वाध्याय के फल का प्रचुर प्रचोदन परवर्ती वाङ्मय में द्रष्टव्य है। यथा मनुस्मृति में प्रोक्त है-

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।[43]

धर्मशास्त्र में स्वाध्याय रूप ब्रह्मयज्ञ में अधीतव्य वेदादि के अध्ययन प्रसंग में अनध्याय काल की विशद विवेचना भी की है। स्मृतियों तथा कल्पसूत्रों में अनध्यायकाल के रूप में जिस कालविशेष की सुदीर्घ श्रृंखला प्राप्त होती है[44]- उसका मौलिक स्रोत भी तैत्तिरीयारण्यक ही है। उदाहरणार्थ मनुस्मृति में प्रोक्त है-

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्।।[45]

इसी अनध्यायकाल का विशद विवेचन तैत्तिरीयारण्यक में बीजरूपेण द्रष्टव्य है- **य एवं विद्वान् मेघे वर्षति विद्योतमाने स्तनतव्यस्फूर्जति पवमाने वायावमावस्यायां स्वाध्यायमधीते तप एव तत् तप्यते तपो हि स्वाध्यायः।**[46]

---

[40] तदेव २.१५

[41] शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.१

[42] यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येषु पयो दधि घृतं मधु।। मनुस्मृति

[43] तदेव १२.१०२

[44] तदेव ४.१०२-१२६

[45] तदेव ४.१३

इस प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक में स्वाध्याय को एक तप बताकर अनध्याय काल में वेदाध्ययन का निषेध भी किया गया है। वेदाध्ययन के मध्य स्वल्प भेद बताकर ब्रह्मयज्ञ के नित्य होने के कारण अनध्याय काल मे भी उसकी सम्पादीनयता के संकेत किये गये हैं- **अमावस्यादिष्वनध्यायेष्वपि ब्रह्मयज्ञो भवत्येव अहरहः स्वाध्यायमधीते इति श्रुतेः।**[47]

मनुस्मृति में भी प्रोक्त है कि जिस नित्य कर्म में अनध्याय नहीं होता है, उसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। ब्रह्मरूपी मुहूर्त्त में हवन किया गया अध्ययन रूप अनध्याय का वषट्कार भी पुण्य ही होता है- **नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसूत्रं हि तत् स्मृतम्।**

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्।।[48]

आचार्य सायण ने भी अपने वेदभाष्य में लिखा है- **ग्रहणाध्ययने यान्यनध्यायकारणानि तानि ब्रह्मयज्ञाध्ययने स्वाध्यायं न निवारयन्ति।**[49]

अतः ब्रह्मयज्ञस्वरूप स्वाध्याय अर्थात् वेदादि के पारायण में आत्मशौच तथा देशाऽशौच को ही अनध्याय का कारण स्वीकार करके तैत्तिरीय आरण्यक में ब्रह्मयज्ञ न करने के मात्र कारणद्वय का ही संकेत मिलता है- **तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदाऽऽत्माऽशुचिरशुचिश्च देशः।**[50]

अतः **ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यं** कहकर मनुस्मृति में ब्रह्मसत्र के रूप में जिस ब्रह्मयज्ञ का प्रामाणिक प्रतिमान बनकर तैत्तिरीय आरण्यक में **स्वाध्यायमधीयीत** के रूप में तथा शतपथब्राह्मण में **तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**[51] के मौलिक रूप में उपदिष्ट स्वीकार करके सभी के लिए ब्रह्मयज्ञ सम्पादन का मूलमन्त्र मानना चाहिए। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शास्त्रोक्त विधि से तैत्तिरीय आरण्यक में प्रोक्त निरपवाद समर्पित स्वाध्याय रूप ब्रह्मयज्ञ का प्रतिदिन सम्पादन करना चाहिए। ब्रह्मयज्ञ के रूप में अध्येतव्य विषयों की विविधशास्त्रोक्त

---

[46] तैत्तिरीयारण्यक २.१४

[47] पारस्करगृह्यसूत्र २.९.१ गदाधरभाष्य

[48] मनुस्मृति २.१०६

[49] कल्याण वेदकथांक पृ० ३५५

[50] तैत्तिरीयाण्यक २.१६

[51] शतपथब्राह्मण १५.५.६.१

सुदीर्घ श्रृङ्खला में से अपनी योग्यता, क्षमता, देश, काल, परिस्थिति के अनुसार अधिक से अधिक वेद, वेदांग, इतिहास, पुराणादि का पाठ करते हुए परमश्रेयस् की प्राप्ति की जा सकती है। यदि अधिक न हो सके तो कम से कम प्रणव तथा व्याहृतिपूर्वक गायत्रीमन्त्र के साथ किसी पुरुषसूक्तादि एक सूक्त या एक मन्त्र का पाठ करके भी ब्रह्मयज्ञ किया जा सकता है।[52] धर्मशास्त्र के इतिहास, आह्निक प्रकाश, धर्मसिन्धु आदि ग्रन्थों में तैत्तिरीय आरण्यक, शतपथ ब्राह्मण, आश्वलायनगृह्यसूत्र, शांखायन गृह्यसूत्र, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रन्थों के सारतत्त्वों का अवलोकन किया जा सकता है। ब्रह्मयज्ञ ऐहिक तथा आमुष्मिक सर्वविध फलों का प्रवर्तक होने के कारण सर्वथा सम्पाद्य नित्य कर्म है।

❑

[52] आह्निक प्रकाश पृ० ३२९

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

ऐतरेय आरण्यक में प्रतिपादित प्राणविद्या

डा० योगेन्द्र कुमार भानु[1]

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्" परम्परा की अनुपालक भारतीय मनीषा आरण्यक-ग्रन्थों को ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशिष्ट ग्रन्थों के रूप में स्वीकार करती है। विषयवस्तु की दृष्टि से यह साहित्य उपनिषदों के अधिक समीप है। जहाँ ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य यज्ञीय प्रक्रिया की व्याख्या है, वहीं आरण्यक-ग्रन्थ यज्ञ-यागों में अन्तर्भूत आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा करते हैं। आचार्य सायण के अनुसार अरण्य में इनका अध्ययन, अध्यापन एवं अनुपालन किये जाने से इन्हें "आरण्यक" कहा जाता है।[2] दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त टीका में आरण्यक-ग्रन्थों के लिये "रहस्य-ब्राह्मण" शब्द का प्रयोग किया है।[3] इसी प्रकार गोपथब्राह्मणकार[4] एवं बोधायन धर्मसूत्रकार[5] ने भी आरण्यकों के लिये "रहस्य" पद का प्रयोग किया है। प्राचीन साहित्य में "रहस्य" पद का प्रयोग प्रायः ब्रह्मविद्या के अर्थ में होता है। आरण्यक-ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त "रहस्य" पद निश्चितरूप से इनके प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मविद्या, प्राणविद्या एवं प्रतीकविद्या की ओर संकेत करता है।

ऐतरेय आरण्यक

ऋग्वेद से सम्बद्ध दो आरण्यकों में ऐतरेय आरण्यक अन्यतम है। यह आरण्यक पाँच आरण्यकों में विभक्त है तथा ये आरण्यक अध्याय एवं खण्डों में विभक्त हैं।

१. प्रथम आरण्यक- ऐतरेय आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है, जो कि ऐतरेय ब्राह्मण के तृतीय प्रपाठक का अंश है।

---

[1] **अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, महारानी श्रीजया स्ना० महाविद्यालय, भरतपुर**

[2] अरण्य एव पाठयत्वादारण्यकमितीर्यते। (ऐतरेय आरण्य उपोद्घात)
अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्षते।। (तैत्ति. आ.भा. श्लो. ६)

[3] निरुक्त टीका १.४

[4] गोपथ ब्रा. २.१०

[5] बोधायन धर्मसूत्र २.८.३

२. द्वितीय आरण्यक- इस आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ अथवा निष्केवल्य शस्त्र, प्राणविद्या एवं पुरुष का विवेचन है। चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् निबद्ध है।
३. तृतीय आरण्यक- इस आरण्यक का नाम संहितोपनिषद् भी है। आरण्यक में संहिता-पद-क्रमपाठों एवं स्वर-व्यञ्जन आदि के स्वरूप का वर्णन है। इसमें प्राचीन वैयाकरण संज्ञाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जिनके आधार पर आलोचकों ने इस आरण्यक को निरुक्त एवं प्रातिशाख्यों से प्राचीनतर माना है।
४. चतुर्थ आरण्यक- यह आरण्यक अतिलघु है। इसमें महाव्रत के पञ्चम दिवस में प्रयुक्त होने वाली (गायी जाने वाली) महानाम्नी नामक ऋचाओं का उल्लेख है।
५. पञ्चम आरण्यक- इस आरण्यक में निष्केवल्य शस्त्र का विस्तार से वर्णन है, जो महाव्रत के मध्याह्न में गाया जाता है।

ऐतरेय आरण्यक में ऋग्वेद की ऋचाओं का उल्लेख प्रायः **"तदुक्तमृषिणा"** कह कर किया गया है तथा अन्य मन्तव्यों को **"श्लोका:"** कहकर निबद्ध किया गया है।[6] विषयवस्तु के आधार पर यह ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण का परिशिष्ट प्रतीत होता है।

ऐतरेय आरण्यक में प्राणविद्या

ऐतरेय आरण्यक में "प्राण" को अध्यात्म विद्या का सर्वस्व कहा गया है। एक आख्यान में प्राण के सर्वमयत्व को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि कभी महाव्रत कर्म में संलग्न विश्वामित्र के शंसन (मन्त्र पाठपूर्वक स्तुति) से प्रसन्न हुए इन्द्र ने विश्वामित्र को अपने प्रिय धाम (स्वर्ग) को प्राप्त करने का वर दिया। इसके उपरान्त इन्द्र ने ऋषि को पुनः एक वर माँगने को कहा, तब ऋषि बोले- मैं तुम्हें जानूँ, मुझे यही वर चाहिये। तब इन्द्र ने कहा- हे ऋषि! मैं प्राण हूँ, जिससे मेरा लोकमित्रम् अन्न प्रिय है, वह मैं ही तपता हूँ- तुम भी प्राण हो, समस्त भूत प्राण ही हैं। यह जो सूर्य तपता है, जिसके द्वारा मैं समस्त दिशाओं में आविष्ट हूँ, जिससे मेरा लोकमित्रवत् अन्न प्रिय है, वह मैं ही तपता हूँ- **तमिन्द्र उवाच प्राणो वा अहमस्म्यृषे प्राणस्त्वं प्राण: सर्वाणि भूतानि प्राणो ह्येष य एष तपति स एतेन रुपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मिन्......।**[7]

---

[6] वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ.२८६-२८७

[7] ऐतरेय आ.२.२.३.४

ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ खण्ड में प्राणोपासना वर्णन क्रम में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्म ने प्राणोपाधिक रुप में पादाग्र से शरीर में प्रवेश किया- **तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषं यत्प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषं तस्मात्प्रपेदे तस्मात्प्रपेदे इत्याचक्षते शफाः खुरा इत्यन्येषां पशूनाम् इति।**[8]

पादाग्र भाग से प्रवेश करने के कारण पादाग्र का प्रपदत्व सम्पन्न हुआ। मैत्रायणी उपनिषद् में भी शरीर में ब्रह्म की अवस्थिति प्राणरूप वायु के रूप में मानी गयी है- **"स वायुमिवाऽऽत्मानं कृत्वाऽभ्यन्तरं प्राविशत्।**[9]

पादाग्र से प्रवेश के उपरान्त ऊपर की ओर गति करते हुए वह विस्तृत हुआ अतः उरू कहलाया- **तदूर्ध्वमुदसर्पता ऊरू अभवताम्।**[10] उससे और ऊपर चल कर वह और विस्तृत हुआ तथा निगरण योग्य विपुलछिद्र रूप उदर बन गया- **"उरू गृणीहीत्यब्रवीतत्तदुदरमभवत्"** (२.४.३)। ब्रह्मसंकल्प से उदर से उपरिवर्ती विपुल छिद्र "उरस्" कहलाया- **उर्वेव मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुरोऽभवत्।**[11] वहाँ कहा गया है कि शर्कराक्षि नामक महर्षि के पुत्रों ने "उदर" में ब्रह्मदृष्टि कर उपासना की एवं अरुणाख्य महर्षि के पुत्रों ने हृदय में ब्रह्मदृष्टि कर उपासना की तथा वे दोनों स्थान ब्रह्म की प्रीतिविषयक होने के कारण ब्रह्म ही हुए-

उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्ष्या उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्माहैवं ता३इ इति।

ब्रह्म उरःपर्यन्त जाकर भी नहीं उपरमित हुआ अपितु उसने और ऊपर की ओर सर्पण किया। ऊपर जाकर उसने शिर में आश्रय लिया। श्रितमनेन इस व्युत्पत्ति से यह शरीर का ऊर्ध्वभाग शिर कहलाया अथवा **"शीर्षश्रियं श्रिताः"** इस शरीर के शीर्ष भाग में चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्, प्राण इत्यादि श्रिय अवस्थित हैं अतः यह शिर कहलाया- **ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पतः। एताः शीर्षः....।**[12]

---

[8] वही २.४.१.१

[9] मैत्रायणी उप. प्र. २.१

[10] ऐत.आ. २.१, ४.२

[11] वही २.१.४.३

[12] वही २.१.४.६

वहाँ कहा गया है कि जो व्यक्ति पुरुष की शिर स्वरुप में उपासना करते हैं, वे चक्षु आदि इन्द्रियों के पाटव रूप उत्तम सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं-

यः पुमान् शिरोनाम विदित्वोपास्तेऽस्मिन्पुरुषे चक्षुरादिपाटवमन्योत्तमसंपदः आश्रिता भवन्ति।[13]

पुरुष के शिर पर्यन्त शरीर में अवस्थित चक्षु आदि इन्द्रियों में प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई कि हम में कौन श्रेष्ठ है? तब यह तय हुआ कि हममें से जिसके शरीर से निकल जाने पर शरीर गिर जायेगा, वही हममें उक्थ (श्रेष्ठ) होगा। तब शरीर से एक-एक इन्द्रिय के निकलने पर, उस उस इन्द्रिय का व्यापार लुप्त हुआ किन्तु शरीर नहीं गिरा। सबके पश्चात् प्राण के शरीर से उत्क्रमण करने पर शरीर गिर पडा।[14] यहाँ पर शरीर का निर्वचन देते हुए कहा गया है- **तदशीर्यताशारीति तच्छरीरमभवत् तच्छरीरस्य शरीरत्वम्।**[15]

प्राण के निकलने पर शरीर के नष्ट होने के कारण ही जो शीर्ण (नष्ट) होता है, वह शरीर है, यही शरीर का शरीरत्व है। तब प्रतिस्पर्धा के पूर्ण होने पर चक्षु आदि देवताओं ने कहा कि तुम ही उक्थ हो, तुम ही श्रेष्ठ हो, शरीर का समस्त व्यापार तुम्हारे अधीन है। हम तुम्हारे (भृत्यवत्) हैं। इस प्रकार आरण्यक का ऋषि **"प्राण उक्थमित्येव विद्यात्"** की घोषणा करता है।[16]

द्वितीय आरण्यक के ही प्रथम अध्याय के षष्ठ खण्ड में प्राण के छन्दोमय देह की कल्पना प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य प्राण के आच्छादकत्वरूप छन्दोमय स्वरूप को जानता है, वह किसी पाप में लिप्त नहीं होता है। यहीं पर-

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः विसूचीर्वसाम आवरीवर्ति- भुवनेष्वन्तः।[17]

मन्त्र की व्याख्या करते हुए मन्त्रद्रष्टा दीर्घतमा कहता है कि मैंने प्राणरूप देव का साक्षात्कार किया है। यहाँ प्राण को "गोपाम्" विशेषण दिया गया है अर्थात् प्राण इन्द्रियों के

---

[13] वही २.१.४.६ पर सायणभाष्य

[14] वही २.१.४.९

[15] वही २.१.४.१०

[16] वही २.१.४.१२.१७

[17] ऋ.१.१६४.३१

रक्षक हैं। आचार्य सायण कहते हैं कि आयु का रक्षक होने से "प्राण" को "गोपाम्" कहा गया है- **आयुर्हेतुत्वात् प्राणस्य रक्षकत्वं प्रसिद्धम्** (२.१.६)। कौषीतकि ब्राह्मण में भी प्राण को आयु का आधार माना गया है- **यावद्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायु:।**[18]

मन्त्रगत अनिपद्यमान विशेषण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अनिपद्यमान का अर्थ है विश्राम न करने वाला- **"न ह्येष कदाचन संविशति इति।"** जिसे सायणाचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सुषुप्ति में सभी इन्द्रियाँ अपने व्यापार से उपरत हो जाती हैं, किन्तु प्राण अपने कार्य से उपरत नहीं होता है। प्रश्नोपनिषद् में भी कहा गया है- **"प्राणाग्नय: एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति।"**[19]

इस खण्ड में मन्त्रस्थ समस्त विशेषणों को प्राणपरक व्याख्यायित करते हुए प्राण को सर्वत्र संश्लिष्ट रूप से व्याप्त कहा गया है, जो समस्त दिशाओं को व्याप्त कर स्थित है- **स सध्रीची: स विषूचीर्वसान इति...।** यद्यपि यह विशेषण आदित्य में भी अति व्याप्त होता है, किन्तु वहाँ स्पष्ट किया है कि आदित्य भी बाह्यप्राणरूप है, जिसे चाक्षुष प्राण अनुगृहीत करता है- **"आदित्यो वै बाह्यप्राण: उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृहीते।"**[20]

यहीं प्राण की महिमा को व्यक्त करते हुए कि यह प्राण समस्त भुवनों में विद्यमान है- **"एष अन्तर्भुवनेष्वावरीवर्ति, इति।"**

प्राण की उक्त महिमा को ऋषि ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा से प्रमाणित करता हुआ कहता है कि प्राण रूप इन्द्र ही अप्रक्षित, अनुपहिंसित एवं अप्रक्षीण फल को देने वाला है-

अप्रक्षितं वसु विभर्षि हस्तयोपाह्लं सहतन्वि श्रुतो दधे।
आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिस्तनुषु ते क्रतव: भरय:॥[21]

यहाँ **"आवृतासो"** पद को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है- **"सर्वं हीदं प्राणेनाऽऽवृतम्"** इति अर्थात् यह समस्तदेव, तिर्यग्, मनुष्य आदि देह प्राणवायु से व्याप्त हैं। उनका अस्तित्व प्राण से ही है। खण्ड के अन्त में ऋषि कहता है कि समस्त जगत् का आधारभूत आकाश, समस्त प्राणी (पिपीलिका से लेकर बृहदाकार तक) प्राण ने अपने

[18] कौषी०१.२

[19] प्रश्नो .४.३

[20] प्रश्नो .१.७

[21] ऋ .१.५६.८

बृहतीच्छन्द स्वरूप से धारण किये हुए हैं- **सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथाऽयमकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात् इति।** [22]

प्राण महिमा वर्णन क्रम में ऐतरेय आरण्यक का ऋषि कहता है कि सृष्टि में अन्तरिक्ष एवं वायु प्राण के अनुचर हैं। शब्द का संचरण कराते हुए अन्तरिक्ष एवं पुण्य गन्ध का आवहन करते हुए वायु प्राण पितर की ही परिचर्या करते हैं। प्राण से अनुप्राणित अन्तरिक्ष एवं वायु जब तक विद्यमान हैं तब तक ही लोक की स्थिति है। ये दोनों प्राण की विभूति हैं- **प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्चान्तरिक्षं वा अनुचरन्ति अन्तरिक्षमनुशृण्वन्ति, वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च एवमेतां प्राणस्य विभूतिं वेद।**[23]

प्राण की महिमा का वर्णन करते हुए एकत्र ऋषि समस्त ऋचाओं, समस्त वेदज्ञान, समस्त घोष एकैव व्याहृति को प्राण रूप बताता है- **ताः वा एताः सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः, एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋचः इत्येव विद्यात्।**[24]

प्राण के माहात्म्यवर्णन के अतिरिक्त आरण्यक का ऋषि प्राण के विविध रूपों का भी उल्लेख करता है-

कालरूप प्राण- ऐतरेय आरण्यक के अनुसार अहोरात्र रूप होने से प्राण कालरूप है। वहाँ कहा गया है- दिन प्राण है तथा रात्रि अपानरूप है। प्रातःकाल में प्राण सब इन्द्रियों (इन्द्रियों की सामर्थ्य) को शरीर में अच्छी तरह से फैला देता है। इस "प्रतनन" को ही "प्रातायि" अर्थात् प्रकर्षणरूप से प्राण विस्तृत हुआ कहा जाता है। दिन के आरम्भ काल में प्राणों के प्रसरण को देख कर ही इसे प्रातः कहा जाता है। इसी प्रकार दिन के अन्त में इन्द्रियों में संकुचन प्रतिभासित होता है। उसे "समागात्" कहा जाता है, अत एव उस काल को सायं कहते हैं। इस विस्तार एवं विकास के कारण दिन प्राणरूप है और संकुचन के कारण रात्रि अपान है- **"तं देवाः प्रणीतः प्रातायत प्रातायीति तत्प्रातरभवत्, समागमादिति**

---

[22] ऐत. आ. २.१.५.१

[23] वही २.१.५.१ पर सा.भा.

[24] वही २.२.२ अन्तिम कण्डिका

तत्सायमभवदहरेव प्राणो रात्रिरपानः।"[25] आचार्य सायण ने यहाँ प्राण एवं अपान का ध्यान अहोरात्ररूप में करणीय माना है- **"तावेतौ प्राणापान व्यापारावहोरात्ररूपत्वेन ध्येयौ।**[26]**"**

देवरूप प्राण- ऐतरेय आरण्यक के अनुसार प्राण देवरूप हैं। वहाँ कहा गया है कि वाग् में अग्निदेव का वास है, चक्षु में सूर्य का वास है, मन में चन्द्रमा अधिष्ठित है तथा श्रोत्र में समस्त दिशाओं का वास है। ये समस्त इन्द्रियाँ प्राण से अनुप्राणित हैं अतः प्राण में ही समस्त देव अधिष्ठित हैं- **वागग्नेश्चक्षुरसादित्यश्चन्द्रमा मनो दिश....।**

यहाँ कहा गया है कि प्राण में सब देवताओं की भावना करनी चाहिये। "हिरण्यदन वैद" नामक ऋषि ने प्राण की देवतारूप में उपासना की। पुनः इसका प्रभूत फल प्राप्त हुआ- **एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह हिरण्यदनो वैदः। अनीशानानि ह वा अस्मै भूतानि बलिं हरन्ति य एवं वेद।**[27]

सत्यरूप प्राण- प्राण के देवरूपत्व के प्रतिपादन के उपरान्त वहीं आरण्यक में प्राण के सत्यरूप का वर्णन किया है। प्राण के सत्यस्वरूप का विवेचन करते हुए वहाँ कहा गया है कि सत्य-गत त्रि-अक्षरों में प्राण, अन्न एवं आदित्य की भावना करनी चाहिये। सत्य शब्द के अक्षरों में ध्येय प्राण-अन्न-आदित्य का त्रिवृत्-त्रिगुणात्मक है। चक्षु भी शुक्ल, कृष्ण एवं कनीनिका रूप में त्रिवृत् एवं त्रिगुणात्मक है- **तत्सत्यं सदिति प्राणस्तीत्यन्नं यमित्यसावादित्यस्तदेतत्त्रिवृत्त्रिवृदिव वै चक्षुः शुक्लं कृष्णं कनीकेति" इति।**[28] आगे ऋषि कहता है कि जो प्राण के सत्यरूप की सकारादि अक्षरत्रय में उपासना करता है, उसे असत्य स्पर्श भी नहीं करता है; उसके द्वारा मृषा (व्यर्थ) बोला गया भी सत्य हो जाता है- **स यदि ह वा अपि मृषा वदति सत्यं है वास्योदितं भवति, य एवमेतत्सत्यस्य सत्यत्वं वेद, इति।**[29]

ऋषिरूप प्राण- आरण्यक के ऋषि का मन्तव्य है कि प्राण ही ऋषिरूप हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों

---

[25] वही २.१.५., ३-४

[26] वही २.१.५.१

[27] वही २.१.५.३

[28] वही २.१.५.५

[29] वही २.१.५.६

की भावना प्राण में करनी चाहिये। क्योंकि प्राण ही इन ऋषियों के आकार में विद्यमान है। ऋषियों की प्राणरूपता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि शयन काल में वाक्, चक्षु आदि इन्द्रियों के निगरण करने से प्राण ही "गृत्स" है तथा रति के समय विसर्गजन्य "मद" को उत्पन्न करने के कारण अपान ही मद है। अतः प्राण एवं अपान के संयोग को ही गृत्समद कहा जाता है- **प्राणो वै गृत्सोऽपानो मदः ....तस्माद् गृत्समद इत्याचक्षते....।**[30] समस्त विश्व प्राण देवता का भोग्य होने के कारण मित्र है। अतः प्राण ही विश्वामित्र हैं- **तस्येदं विश्वं मित्रमासीद्...... तस्माद् विश्वामित्र इत्याचक्षते।**[31]

प्राण को देखकर वागाद्यभिमानी देवों ने कहा कि यह प्राण ही हममें "वाम" अर्थात् वन्दनीय, भजनीय एवं सेवनीय है, हममें श्रेष्ठ है। अतः देवों में वाम होने से प्राण ही वामदेव है- **तं देवाः अब्रुवन् अयं वै सर्वेषां वाम इति....।**[32] **सर्वपाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः** इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से समस्त विश्व को पापों से बचाने के कारण प्राण ही अत्रि है।[33]

प्राण स्वयं गतिसम्पन्न हैं तथा देह में रहकर शरीर को गतिमान् करते हैं तथा शरीर में प्रवेश करके सदा उसकी रक्षा करते हैं तथा भरण करते हैं। अतः प्राण को "बिभ्रद्वाजः" कहा गया है। प्राण का यह स्वरूप ही "भारद्वाज" है- **एष उ एव बिभ्रद्वाजः, प्रजा वै वाजः ताः एषः बिभर्ति यद्बिभर्ति तस्माद् भारद्वाजः।**[34] प्रजा ही "वाज" है, उसका भरण करने के कारण ही इसे भारद्वाज कहते हैं। प्राण ही वास एवं निवास के हेतु होने के कारण शरीरस्थ इन्द्रियों के वास स्थान हैं- **"अयमेव प्राणः अस्माकं स्वप्नवेशेनात्यन्तं निवास हेतुः।"** निवासयोग्य होने के कारण देवताओं ने प्राण को वसिष्ठ कहा- **तं देवाः अब्रुवन् अयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठः......तस्माद्वसिष्ठ इत्याचक्षते।**[35]

इन निदर्शनों के आलोक में यह संक्षिप्त अध्ययन ऐतरेय आरण्यक में प्राणविद्या के गम्भीर विवेचन का प्रमाण है। निश्चित रूप से यह ज्ञान अति गम्भीर है। जो विस्तृत शोध की अपेक्षा रखता है। ❑

---

[30] वही २.२.१.३

[31] वही २-२-१.४

[32] वही २-२-१.५

[33] वही २-२-१.६

[34] वही २-२.२-१

[35] वही २-२.२-२

आरण्यक-साहित्य में आत्मतत्त्व

डा० स्नेहलता शर्मा[1]

वैदिक तत्त्वमीमांसा के इतिहास में आरण्यकों का अतिविशिष्ट स्थान है। **"अरण्ये भवम् आरण्यकम्"** अर्थात् वन (अरण्य) में होने वाला। अरण्य में होने वाला स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, शास्त्रीय गोष्ठी एवं अध्यात्म सम्बन्धी विवेचन आरण्यक कहलाता है। अभिप्राय है कि जिसका अध्ययन-अध्यापन अरण्य में रहकर किया जाता है, उसे आरण्यक कहते हैं।

आचार्य सायण ने आरण्यक के विषय में कहा हैं-

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्यैवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।।[2]

अर्थात् अरण्य में किये जाने वाला अध्ययन आरण्यक कहलाता है। वस्तुतः आरण्यकग्रन्थों में आत्मविद्या, तत्त्वचिन्तन तथा रहस्यमय विषयों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। गोपथ ब्राह्मण में आरण्यकों को **"रहस्य"** नाम से कहा गया है।[3] आरण्यकों में यज्ञ का गूढ़ रहस्य और ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन होने से इन्हें "रहस्य" कहा गया। आचार्य यास्क ने भी आरण्यकों को "रहस्य" कहा है- **"ऐतरेयके रहस्यब्राह्मणे"**[4] रहस्य-विद्या के मुख्य केन्द्र आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों को जोड़ने वाली श्रृंखला है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक पक्षों का बीज मिलता है तो उनका विकसित रूप आरण्यकों में प्राप्त होता है। आरण्यकों का मुख्य विषय है- प्राणविद्या, प्रतीकोपासना, ब्रह्मविद्या, आध्यात्मिकता, आत्मविद्या इत्यादि। आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों का ही भाग है

[1] **सहायकाचार्या, साहित्य विभाग, ज.रा.रा.सं.वि.वि., जयपुर।**

[2] तैत्तिरीयारण्यक-भाष्य-६

[3] सर्वे वेदाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः। गोपथ ब्रा.१.२.१०

[4] यास्कीय निरुक्त, भाष्य१.४

अतः इनके रचनाकार ही आरण्यकों के रचयिता माने जाते हैं। सम्प्रति निम्नलिखित आरण्यक ग्रन्थ प्रमुख हैं-

१.ऋग्वेदीय आरण्यक- ऐतरेय आरण्यक, कौषितकि या शांखायन

२. शुक्ल यजुर्वेदीय आरण्यक- बृहदारण्यक (यह माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं में प्राप्य है।)

३. कृष्णयजुर्वेदीयारण्यक- तैत्तिरीय आरण्यक, मैत्रायणी आरण्यक।

४. सामवेदीय आरण्यक- तलवकार, छान्दोग्यारण्यक।

५. अथर्ववेदीय-गोपथ ब्राह्मण के ब्रह्मविद्या सम्बन्धी भाग।

उपर्युक्त आरण्यकों में बृहदारण्यक का स्थान अन्यतम है। यह शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा के वाजसनेयी ब्राह्मण के अन्तर्गत परिगणित है। आकार में बड़ा तथा अरण्य में अध्ययन होने के कारण इसे बृहदारण्यक नाम से जाना जाता है। इसमें आत्मतत्त्व के विषय में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। बृहदारण्यक में वर्णन है कि अजातशत्रु ने बालाकि से सोये हुए पुरुष को अनेक नामों से पुकारे जाने पर भी न उठने तथा हाथ से दबाकर जगाने से उठने के विषय में प्रश्न किया कि "यह जो विज्ञानमय पुरुष है" जब सोया हुआ था तब कहाँ था और यह कहाँ से आया? किन्तु गार्ग्य (बालाकि) अनुत्तरित था तब अजातशत्रु ने उसे आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बताया- **स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा बृह्णत्यथ है तत्पुरुषः स्वपिति तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतः मनः।**[5]

अर्थात् यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, उस समय यह विज्ञान के द्वारा इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति को ग्रहण कर हृदय के भीतर स्थित आकाश में शयन करता है। इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति को ग्रहण करने पर यह "स्वपिति" कहलाता है। स्वपिति अवस्था में यह हृदयस्थित हो अन्य नाड़ियों में भी भ्रमण करता है। गाढ़ निद्रा की अवस्था में यह प्राणों

---

[5] बृहदारण्यक२.१.१७

को ग्रहण कर अपने शरीर में यथेच्छ विचरण करता है।[6] जीव किस प्रकार इन्द्रिय आदि का निर्माण करता है, इस विषय में वर्णन मिलता है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने से भिन्न किन्तु अपने भीतर ही स्थित तन्तु समूह को बाहर निकाल कर जाला बनाती है तथा उसमें ही विचरण करती है तथा जिस प्रकार अग्नि से चिँगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से सब इन्द्रियाँ, इन्द्रिय गोलक (सर्वदेव), इन्द्रियों के सहायक सूर्यादि देव और समस्त अग्नि, वायु, आदि भूत प्रकट होते हैं। उस आत्मा का शुद्ध नाम सत्य का सत्य है- **"सत्यस्य सत्यम्" प्राणाः वै सत्यम्"** अर्थात् निश्चय ही प्राण इन्द्रियाँ सत्य हैं और उनका यह आत्मा सत्य है। कठोपनिषद् में भी जीवात्मा के सम्बन्ध में यह वर्णन मिलता है कि- **गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे छाया तपो ब्रह्मविदो वदन्ति।**[7]

अर्थात् गुहा (हृदयाकाश) में जीवात्मा और परमात्मा छाया और प्रकाश की तरह रहते हैं। आत्मा का शरीर में स्थिर स्थान होते हुए भी वह सूक्ष्म शरीर के साथ यथेष्ट रीति से समस्त शरीर में नाड़ियों के द्वारा भ्रमण किया करता है।[8] जीवात्मा को "आत्मन्वी" कहा गया है अर्थात् यह परमात्मा का अन्वेषण या खोज करता है। इस सम्बन्ध में बृहदारण्यक में प्रसंग मिलता है- **स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजात शत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्वनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः।**[9]

मधुविद्या के अन्तर्गत कहा गया है कि यह आत्मा समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस आत्मा के मधु हैं। इस आत्मा (जीव) में जो यह आत्मव्यापी तेजस्वी अमर

---

[6] अथ यदा सुषुप्तो...... ष्यीतैवमेवैष एतच्छेते। बृहदारण्यक२.१.१८-१९

[7] कठोपनिषद् ३.१

[8] उपासना रहस्य' नामक ग्रन्थ में डा० सत्यदेव आर्य ने कहा है कि यह 'हृदय' वह स्थान नहीं है, जो शरीर में रक्त का संचालन केन्द्र है, अपितु यह 'हृदय' मस्तिष्क संस्थान का ही विशिष्ट अङ्ग है।

[9] बृहदारण्यक २.१.१३

पुरुष है। यह वही है, जो सर्वव्यापी परमात्मा है।[10] अधिभूतदर्शन के बाद अध्यात्मदर्शन के अन्तर्गत आत्मा के विषय में बृहदारण्यक में कहा गया है कि जो प्राण में रहने वाला प्राण के भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राण का नियमन करता है, वह आत्मा अन्तर्यामी अमृत है- **यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्रायमृतः।**[11]

यह आत्मा सभी प्राणधारियों में रहकर समस्त भूतों के भीतर अवस्थित है। इसको सब प्राणी नहीं जानते, इसका शरीर समस्त भूत है, यह समस्त भूतों के भीतर रहकर उन्हें नियन्त्रित करता है, यह सबका आत्मा परमात्मा, अन्तर्यामी और अमर है। इस प्रकार आत्मा की अन्तर्यामिता के विषय में उद्दालक द्वारा प्रश्न किये जाने पर याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर तीन प्रकार से दिया- अधिदैवत, अधिभूत एवं अध्यात्म। इन्हीं को क्रमशः अधिदैवतदर्शन, अधिभूतदर्शन एवं अध्यात्मदर्शन नाम से कहा जात है।[12]

एक अन्य स्थल पर जनक द्वारा याज्ञवल्क्य से पूछा गया कि **"कतम आत्मेति"** अर्थात् आत्मा कौन-सा है, तब याज्ञवल्क्य इसका स्वरूप बताते हैं- **"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ...मृत्यो रूपाणि।**[13] अर्थात् प्राण और हृदय के मध्य रहने वाला तथा ज्ञान और प्रयत्न स्वभाव वाला आत्मा है।

वस्तुतः यह आत्मा प्रज्ञानघन ही है। जिस प्रकार नमक का डला भीतर और बाहर से रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर-बाह्य-भेद से शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। यह इन भूतों से विशेष रूप से उत्थित होकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मर जाने पर इसकी संज्ञा नहीं रहती।[14] वस्तुतः इस पुरुष के दो ही स्थान हैं- लोक तथा परलोक। तीसरा स्थान स्वप्नस्थान (सन्ध्यस्थान) है। सन्ध्यस्थान में रहता हुआ यह इस

---

[10] यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरोआत्माऽन्तर्याभ्यमृतः। बृहदारण्यक ३.७.२२

[11] बृहदारण्यक ३.७.१६

[12] यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो ....इत्यधिभूतमथाध्यात्मम्। बृहदारण्यक ३.७.१५

[13] बृहदारण्यक ४.३.७

[14] वही ४.६.१३

लोकरूप स्थान तथा परलोक स्थान को देखता रहता है। जिस समय यह सोता है, उस समय इस सर्वावान् लोक की यात्रा (एकदेश) को लेकर, स्वयं इस स्थूल शरीर को अचेत करके तथा स्वयं ही अपने वासनामय देह को रचकर अपने प्रकाश से अर्थात् अपने ज्योतिः स्वरूप से शयन करता है। इस स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योतिः स्वरूप होता है।[15] इसे "ज्योतिः स्वरूप" इसलिए कहा गया है क्योंकि यह आत्मा स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट करके स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।

यह आत्मा स्वप्नावस्था में रमण करके पुण्य और पाप को देखकर ही फिर जिस प्रकार आया था और जहाँ से आया था, उस जागरित स्थान को चला जाता है, वहाँ यह जो कुछ देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है। इसीलिए इसे "असङ्ग" भी कहा गया है।[16]

पुरुष की अन्तिम अवस्था बुढ़ापा अथवा रोगों के कारण इस आत्मा का शरीर में रहना कथमपि सम्भव नहीं होता, तब वह पके हुए फल के डंठल से छूट जाने की भाँति दुर्बल अंगों को छोड़ कर्मफलानुसार किसी अन्य शरीर को ग्रहण करने हेतु चला जाता है- **स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति यद्यथाम्रं वोदुम्बर वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रति योन्या द्रवति प्राणायैव।**[17]

इस प्रकार आरण्यक-साहित्य में विशिष्ट रूप से बृहदारण्यक में वर्णित आत्मतत्त्व के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आत्मतत्त्व वस्तुतः परमात्मान्वेषी है। यह समस्त भूतों से पृथक् रहकर उन्हीं के भीतर अवस्थित हो उनका नियन्त्रण करता है। इसे अन्तर्यामी और अमर कहा गया है। यह प्राण और हृदय के मध्य स्थित रहता है तथा ज्ञान एवं प्रयत्न स्वभाव वाला है। इसे ही प्रज्ञानघन एवं असङ्ग कहा गया है। मनुष्य के शरीर की अन्तिम अवस्था में यह इसे छोड़कर अन्य शरीर में चला जाता है अतः यह कभी मरता या नष्ट नहीं होता अपितु

[15] वही ४.३.९

[16] वही ४.३.१६

[17] बृहदारण्यक ४.३.३६

परिस्थितिवशात् रूपपरिवर्तन कर लेता है। अतः आत्मा को अजर एवं अमर कहा गया है। संहिता एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में सूत्र रूप में उल्लिखित आत्मतत्त्व का विस्तार आरण्यकों में दिखाई देता है। आत्मतत्त्व के विषय में आज भी निरन्तर अनुसन्धान किये जा रहे हैं। आत्मतत्त्व की मीमांसा के सन्दर्भ में आरण्यक-साहित्य में इसके सूत्र आधुनिक अन्वेषकों के लिए आज भी अनुसन्धेय हैं।

❑

लोकरूप स्थान तथा परलोक स्थान को देखता रहता है। जिस समय यह सोता है, उस समय इस सर्वावान् लोक की यात्रा (एकदेश) को लेकर, स्वयं इस स्थूल शरीर को अचेत करके तथा स्वयं ही अपने वासनामय देह को रचकर अपने प्रकाश से अर्थात् अपने ज्योतिः स्वरूप से शयन करता है। इस स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योतिः स्वरूप होता है।[15] इसे "ज्योतिः स्वरूप" इसलिए कहा गया है क्योंकि यह आत्मा स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट करके स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।

यह आत्मा स्वप्नावस्था में रमण करके पुण्य और पाप को देखकर ही फिर जिस प्रकार आया था और जहाँ से आया था, उस जागरित स्थान को चला जाता है, वहाँ यह जो कुछ देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है। इसीलिए इसे "असङ्ग" भी कहा गया है।[16]

पुरुष की अन्तिम अवस्था बुढ़ापा अथवा रोगों के कारण इस आत्मा का शरीर में रहना कथमपि सम्भव नहीं होता, तब वह पके हुए फल के डंठल से छूट जाने की भाँति दुर्बल अंगों को छोड़ कर्मफलानुसार किसी अन्य शरीर को ग्रहण करने हेतु चला जाता है- **स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति यद्यथाम्रं वोदुम्बर वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रति योन्या द्रवति प्राणायैव।**[17]

इस प्रकार आरण्यक-साहित्य में विशिष्ट रूप से बृहदारण्यक में वर्णित आत्मतत्त्व के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आत्मतत्त्व वस्तुतः परमात्मान्वेषी है। यह समस्त भूतों से पृथक् रहकर उन्हीं के भीतर अवस्थित हो उनका नियन्त्रण करता है। इसे अन्तर्यामी और अमर कहा गया है। यह प्राण और हृदय के मध्य स्थित रहता है तथा ज्ञान एवं प्रयत्न स्वभाव वाला है। इसे ही प्रज्ञानघन एवं असङ्ग कहा गया है। मनुष्य के शरीर की अन्तिम अवस्था में यह इसे छोड़कर अन्य शरीर में चला जाता है अतः यह कभी मरता या नष्ट नहीं होता अपितु

[15] वही ४.३.९

[16] वही ४.३.१६

[17] बृहदारण्यक ४.३.३६

परिस्थितिवशात् रूपपरिवर्तन कर लेता है। अतः आत्मा को अजर एवं अमर कहा गया है। संहिता एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में सूत्र रूप में उल्लिखित आत्मतत्त्व का विस्तार आरण्यकों में दिखाई देता है। आत्मतत्त्व के विषय में आज भी निरन्तर अनुसन्धान किये जा रहे हैं। आत्मतत्त्व की मीमांसा के सन्दर्भ में आरण्यक-साहित्य में इसके सूत्र आधुनिक अन्वेषकों के लिए आज भी अनुसन्धेय हैं।

❑

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

आरण्यक वाङ्मय में प्राणविद्या

डा० सुधीर कुमार शर्मा[1]

वैदिक संस्कृति को यज्ञ संस्कृति के नाम से भी अभिहित किया जाता है। सम्पूर्ण वेद वाङ्मय में यज्ञों का स्थान महत्त्वपूर्ण एवं सार्वकालिक रहा है। यज्ञों की विभिन्न व्याख्याएँ, मन्त्रों के विनियोग आदि पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्यापक चर्चा प्राप्त होती है। इसी क्रम में जब यज्ञ के द्रव्यात्मक स्वरूप को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया, तब यज्ञ का वास्तविक मर्म ओझल होने लगा, तो यह आवश्यकता अनुभूत की गई कि श्रौतयागों की आध्यात्मिक एवं प्रतीकात्मक व्याख्या की जाए। यह कार्य ऋषियों द्वारा आरण्यक-ग्रन्थों के माध्यम से किया गया। आरण्यक-ग्रन्थों में वैदिक यागों की गम्भीर अर्थवत्ता एवं आध्यात्मिक रहस्यों का सन्धान किया गया है।

आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों के मध्य की कड़ी हैं। उपनिषदों में जिन आध्यात्मिक तत्त्वों को हम अत्युच्च शिखर पर आरूढ़ देखते हैं, उनकी पृष्ठभूमि आरण्यकों में ही निहित है। वैदिक वाङ्मय में आरण्यक-साहित्य अत्यधिक उपादेय है। पचास वर्ष से अधिक अवस्था का व्यक्ति, जो श्रौतयागों के स्थूल द्रव्यात्मक स्वरूप से सुपरिचित थे, उसे अब इस स्वरूप के वास्तविक मर्म की जिज्ञासा स्वभावतः अधिक थी। इन्हीं की बौद्धिक जिज्ञासाओं के शमन के लिए आरण्यक-साहित्य का प्रणयन हुआ।[2] व्युत्पत्ति की दृष्टि से "आरण्यक" शब्द "अरण्य" में वुञ् (भावार्थक) प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। इस प्रकार इसका अर्थ है- अरण्य में होने वाला- **अरण्ये भवमिति आरण्यकम्।** इस प्रकार की व्याख्या बृहदारण्यक में भी प्राप्त होती है- **अरण्येऽनूच्यमानत्वात् आरण्यकम्।** आचार्य सायण ने तैतिरीय आरण्यक की भूमिका में अरण्यों में अध्ययन अध्यापन के कारण "आरण्यक" नामकरण को सिद्ध किया है-

अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥

---

[1] **अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, संस्कार भारती स्ना०महा०, बगरू (जयपुर)**

[2] संस्कृत वाङ्मय का बृहत इतिहास, बलदेव उपाध्याय, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ, १९९६, पृ.४४४

ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने वाला ही इन ग्रन्थों के अध्ययन का अधिकारी है- **एतदारण्यकं सर्वं नाव्रती श्रोतुमर्हति।**[3] तैत्तिरीयारण्यक में इस व्याख्या को विस्तार देते हुए बताया गया है कि वनों के साथ ग्रामों में भी पावन अन्तःकरण से इनका अध्ययन किया जाता था, इस कार्य में दिन-रात का भी बन्धन नहीं था- **ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तम् उतारण्यऽबल उत वाचोत तिष्ठन्नुत व्रजन्नुतासीन्न उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्यायान्मा।**[4]

आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन चलते हुए, बैठे हुए, निद्रोन्मुख स्थितियों में भी किया जा सकता है- **य एवं विद्वान् महारात्र उषस्युदिते व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानोऽरण्ये ग्रामे वा यावत्रसं स्वाध्यायमधीते सर्वांल्लोकां जयति सर्वांल्लोकाननृणोऽनुसंचरति।**[5]

यदि प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से देखा जाए जो ज्ञात होता है कि आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्राणविद्या है। किन्तु ये प्राणविद्या को अपनी अनोखी सूझ नही बतलाते प्रत्युत ऋग्वेद के मन्त्रों (६.१६४.३१,१.१६४.३८) को अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं। जिनमें प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास प्राप्त होता है।[6] प्राण क्या हैं? वैदिक ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा ने प्राणों का स्वरूप, लक्षण एवं जगत् के आदि कारण के रूप में उनकी सत्ता की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में असत् ही था। वह असत् क्या था? वह असत् ऋषि ही थे। इस पर कहते हैं कि वे ऋषि कौन थे? प्राण ही वे ऋषि थे, जिन्होंने सबसे पहले इस सृष्टि को चाहा। वे श्रम तथा तप से खिन्न हो गये इसलिए उनका नाम ऋषि हुआ-

ओ३म् असद्वाऽइदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः।[7]

प्राण के स्वरूप के विषय में ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है- प्राण ही इस विश्व को धारण करता है। प्राण की शक्ति से ही यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है। सर्वोच्च प्राणी से लेकर चींटी सदृश क्षुद्र प्राणी पर्यन्त समस्त इसी प्राण के द्वारा प्रतिष्ठित हैं-

---

[3] वही .पृ .२४५

[4] तैत्तिरीय आरण्यक २.१२.२

[5] वही २.१५.१

[6] वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान वाराणसी, पृ .२३४-३५

[7] शतपथ ब्राह्मण ६.१.१.१

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।[8]

पण्डित मधुसूदन ओझा ने भी इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि सृष्टि का उपादान कारणभूत प्राण चतुर्विध है-

प्राणोऽयमग्रेऽभवन् समन्तात्यथा सरस्वान् स तथाप्तिपूर्णः।
स्वभावभेदेन चतुर्विधोऽसौ चत्वार एकत्र समाहिता स्युः।।[9]

इनके अनुसार प्राण के चार भेद हैं- १. परोरजा, २. आग्नेय, ३. सौम्य और ४. आप्य। परोरजा प्राण वह है, जिसके कारण सृष्टि के सभी पदार्थ अपने नियत स्थान पर निर्धारित रूप से रहते हैं। आग्नेय प्राण पदार्थों का विकलन करते हैं। सौम्य प्राण पदार्थों में घनत्व उत्पन्न करते हैं या संकुचन करते हैं और आप्य प्राणों से पदार्थों का रूपान्तरण होता है। ओझा जी ने प्राण के दस लक्षण बताएँ हैं[10] -

१. प्राण "कुर्वदुप" है अर्थात् प्रतिक्षण क्रियाशील है। इसी रूप में जगत् की समस्त क्रियाएँ प्राणरूप हैं।

२. पञ्चमहाभूतों के लक्षण रूप-रस-गन्ध-स्पर्श एवं शब्द प्राणों से उत्पन्न नहीं होते हैं।

३. कोई भी प्राण किसी भूत के आश्रय के बिना नहीं रहता है। अपने इस स्वभाव से प्राण "वाक्" में रहता हुआ विधरण धर्म से प्रतिक्षण घन बनता है। इसी करण से प्राण को अर्थवान् कहते हैं।

४. प्राण में आसंजन धर्म रहता है। इसी धर्म के कारण प्राण विधरण करता है।

५. विसारिता अर्थात् अल्पप्रदेश में रहकर भी अधिक प्रदेश में रहना। प्राण जिस स्थान पर रहता है, उसे व्याप्त कर लेता है।

६. प्राण मन की इच्छा के अनुसार कार्य करता है। निद्रा की अवस्था में प्राण का व्यापार मन की प्रेरणा से नित्य बना रहता है।

७. प्राण कभी सोता नहीं है। इसे असुप्ति कहते हैं।

८. प्राण कभी विश्राम नहीं करता है। प्राण में जो थकान होती है, वह वस्तुतः मन की ही है।

९. संक्रमण- प्राण एक वस्तु से दूसरी वस्तु में चला जाता है।

१०. प्राणापन- चलते-चलते रुक जाना एवं पुनः चलना भी प्राण का लक्षण है।

---

[8] ऐतरेय आरण्यक २.१.६

[9] संशयतदुच्छेदवादः, पं .मधुसूदन ओझा, ३.५.२.१

[10] प० मधुसूदन ओझा की सारस्वत साधना, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, १९९७, पृ .१५४-१५५

आरण्यकों के अनुसार अन्तरिक्ष और वायु से प्राण का सम्बन्ध पितृवत् है। प्राण ने ही दोनों की सृष्टि की है। जैसे सत्कर्मों के माध्यम से पुत्र अपने पिता की सेवा करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायु भी प्राण की सेवा में संलग्न रहते हैं- **प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति अन्तरिक्षमनुशृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।**[11]

समस्त ऋचाएँ एवं वेद-ध्वनियाँ भी प्राण में ही सन्निहित हैं-

ता वा एताः सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः

एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येवं विद्यात्।[12]

बृहदारण्यक में भी प्रथम द्वितीय अध्याय में प्राण के स्वरूप पर विशद चर्चा प्राप्त होती है।[13] **अथाह प्राणमूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तन्देवेभ्य अगायद्यत् कल्याणंजिघ्रति तदात्मने।**[14]

उक्त ब्राह्मण में ऐतरेय आरण्यक के वचन "वेद ध्वनियाँ भी प्राण में ही सन्निहित है" की भाँति ही प्राण को उद्गीथ गायन हेतु प्रेरित करने के प्रसंग में पुनः कहा है कि वेद ध्वनियों का आधार प्राण ही है। बृहदारण्यक में प्राण को एक बालक या बछड़े से उपमा देते हुए शरीर को उसका मुख्य निवास स्थान बताया गया है। सिर को उसके रहने की अनेक जगह वाला और अन्न को उसकी रस्सी कहा गया है- **यो ह वै शिशुं साधनं सप्रत्याधानं संस्थूणं सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम।**[15]

प्राण को अग्नि और परमात्मा शब्दों के समानार्थक भी बतलाया गया है- **"प्राणोऽग्निः परमात्मा"।**[16]

इस प्रकार आरण्यक वाङ्मय में प्रतिपादित प्राणतत्त्व समस्त ब्रह्माण्ड में भिन्न-भिन्न रूपों में व्याप्त है। जगत् के समस्त पदार्थ इस प्राणतत्त्व के आधार पर ही गति एवं स्थिति को प्राप्त होते हैं। वेदों में भी इसका निरूपण किया गया है।

❑

---

[11] ऐतरेय आरण्यक -२.१.७

[12] वही २.२.२

[13] कल्याण, उपनिषद् अंक, पृ.४६०, ४६५, ४७०

[14] बृहदारण्यक १.३.३

[15] बृहदारण्यक २.२.१

[16] मैत्रायणी आरण्यक ६.९

ऐतरेयारण्यक में वर्णित महाव्रत का स्वरूप

डा० विनोद कुमार[1]

अरण्य शब्द से **"तत्र भवः"**[2] अर्थ में वुञ् प्रत्यय करने के उपरान्त आरण्यक शब्द निष्पन्न होता है, जिसका सम्बन्ध "वन" से है। सायणाचार्य कहते हैं अरण्य अर्थात् वन में पढ़ाये जाने के कारण इन्हें आरण्यक कहा गया है **"अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते"**।[3] आरण्यकों का उद्भव ब्राह्मण-ग्रन्थों से माना जाता है क्योंकि कर्मकाण्ड से सम्बद्ध होने के कारण तथा ब्राह्मणों का ही अन्तिम भाग होने के कारण दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। वैशिष्ट्य केवल इतना है कि ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड पक्ष पर विशेष बल दिया गया है तो आरण्यकों में उनके आध्यात्मिक पक्ष को अनावृत करने का प्रयास किया गया है। महाभारत में कहा है-

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्य औषधिभ्योऽमृतं यथा॥ महा०भा० आदिपर्व३/३३१,

ऐतरेयारण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन विस्तार के साथ उपलब्ध होता है। वस्तुतः ऐतरेय ब्राह्मण (३.१.३८ आदि) में गवामयन सत्र का वर्णन प्राप्त होता है। उसी गवामयन में महाव्रत का भी एक दिन होता है, जो सम्पूर्ण वर्ष चलने वाले गवामयन सत्र में अन्तिम दिन से पहला दिन माना जाता है। जबकि तैत्तिरीय ब्राह्मण में महाव्रत की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है- **महान् भवत्यनेन व्रतेनेति महाव्रतं, महतो देवस्य व्रतमिति महाव्रतम्, महच्च तद् व्रतमिति महाव्रतम्**।[4] अर्थात् जिस व्रत का पालन करने से महान् बना जाये, वह महाव्रत है अथवा महान् देवता से सम्बन्धी जो व्रत है, वह महाव्रत है अथवा जो व्रत महान् होता है, वह महाव्रत कहलाता है। इस प्रकार महाव्रत का प्रथम उल्लेख कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त होता है तथा काठक संहिता में भी महाव्रत का संक्षिप्त वर्णन है। इन ग्रन्थों के अनुसार महाव्रत के दिन भिन्न-भिन्न सामों के उच्चारण के

---

[1] **सहायक आचार्य, रा.स्ना. महाविद्यालय. काँधला, शामली**

[2] अष्टाध्यायी ४.३.५३

[3] ऐ. आ.भाष्यभूमिका,पृ.२

[4] महाभा., आदिपर्व,३३१/३

द्वारा विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति होती है।[5] इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि महाव्रत का उद्देश्य अन्न, प्रजा, स्वर्ग आदि प्राप्त करना है। ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति प्रजा की रचना करके अत्यन्त क्षीण हो गया। तदनन्तर देवताओं ने महान् व्रत अन्न को आरम्भ करके प्रजापति की चिकित्सा की। इससे भी यही स्पष्ट हो रहा है कि महाव्रत अन्न की प्राप्ति के लिए किया जाता है- **'प्रजापतिर्वाव महाँ तस्यैतद् व्रतमन्नमेव।**[6]

उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में महाव्रत को पक्षिरूप की संज्ञा दी गई है अर्थात् पक्षिरूप महाव्रत स्तोत्र के वामदेव्य, गायत्री, रथन्तर, बृहत् तथा यज्ञायज्ञीय सामों को आत्मा, शिरस्, दक्षिणपक्ष, उत्तरपक्ष तथा पुच्छ के समान बताया गया है- **वामदेव्यम्महाव्रतं कार्यन्तस्य गायत्रं शिरो बृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञीयं पुच्छम्**[7] इस प्रकार आत्मा की उपासना पंचविंश स्तोम से करनी चाहिए। शिरस् की उपासना गायत्री छन्द में करने से यजमान ब्रह्मवर्चसी हो जाता है तथा अन्न को प्राप्त करता है। दक्षिणपक्ष तथा उत्तरपक्ष की उपासना पंचदश तथा सप्तदश स्तोम से करनी चाहिए क्योंकि इसके द्वारा यजमान पक्षी होकर स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। प्रतिष्ठा हेतु पुच्छ की उपासना एकविंश स्तोम से करनी चाहिए। इस प्रकार जो मनुष्य शिरस् पक्ष आदि रूप के द्वारा पञ्चावयव महाव्रत में सहस्रता को मानता है, वह यजमान सहस्रसंख्या पशु को प्राप्त करता है।[8] ब्राह्मण-ग्रन्थों के पश्चात् आरण्यक-साहित्य में ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय तथा शांखायन आरण्यक में भी महाव्रत का वर्णन प्राप्त होता है किन्तु इसका स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन केवल ऐतरेयारण्यक में ही उपलब्ध है।

ऐतरेयारण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत के प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायं सवनों का उल्लेख है। यहाँ आरम्भ में ही **'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवद्यन्महानभवत्तन्महाव्रतमभवत। तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्त्वम्**[9] यह कहकर महाव्रत की व्याख्या करते हुए उसका महत्त्व स्पष्ट किया गया है। अर्थात् इन्द्र (याग के द्वारा)

---

[5] वही,७/५/८-१०

[6] ताण्ड्य ब्रा.४/१०

[7] वही, ५/२

[8] वही, ५/१-२

[9] ऐ.आ.१/१/१

वृत्र को मारकर महान् हो गया इसलिए इसे महाव्रत की संज्ञा दी गयी है। यहाँ महाव्रत को तीन रूपों में सम्पन्न किया जाता है- एकाहरूप, अहीनरूप तथा सत्ररूप। सत्र में संलग्न सभी को दीक्षित होना चाहिए क्योंकि तभी होता की यजमान (यज्ञ करने वाला) संज्ञा पूर्ण होती है। ध्यातव्य है कि यहाँ सत्ररूप महाव्रत की प्रकृति है तथा एकाहरूप और अहीनरूप विकृति है- **सत्रे समुत्पन्नं महाव्रतं प्रकृतिः। एकाहरूपमहीनरूपं च विकृतिः।**[10] इस प्रकार महाव्रत को यहाँ प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायं सवनों में विभाजित किया गया है, जिनके अन्तर्गत क्रमशः आज्य एवं प्रउग शस्त्र, मरुत्वतीय एवं निष्केवल्य शस्त्र तथा आग्निमारुत और वैश्वदेव शस्त्र वर्णित हैं। इन सभी का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

प्रातःसवन (आज्यशस्त्र)

प्रातःसवन (आज्यशस्त्र) महाव्रत के दिन प्रातःसवन में काम्याज्य शस्त्रों का वर्णन है। इसमें प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न मन्त्र विभिन्न इच्छाओं पर आधारित हैं। समृद्धि की इच्छा करने वाले यजमान को "**प्र वो देवायाग्नये**"[11] सूक्त का उच्चारण करना चाहिए। पुष्टि की कामना करने वाले यजमान को "**विशो विशो वो अतिथिम्**"[12] सूक्त का पाठ करना चाहिए। प्रजा तथा पशु की इच्छा करने वाले यजमान को "**होताजनिष्ट चेतन**"[13] सूक्त का पाठ करना चाहिए। कीर्त्ति की कामना के लिए "**अबोध्यग्निः समिधा जनानाम्**"[14] सूक्त का उच्चारण करना चाहिए। इसी तरह अन्न की इच्छा करने वाले यजमान को "**अग्निं नरो दीधितिभिररण्योः**"[15] सूक्त का पाठ करना चाहिए इत्यादि।

प्रातःसवन (प्रउग शस्त्र)

प्रातःसवन में काम्याज्य शस्त्रों के समाप्त होने पर प्रउग शस्त्र का वर्णन है। प्रउग शस्त्र सात ऋचाओं द्वारा सम्पन्न होता है। इस शस्त्र में गायत्री, जगती, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति तथा त्रिष्टुभ् को विभिन्न विशेषताओं से युक्त कहा गया है। यहाँ गायत्री को

---

[10] वही, ५/१/१

[11] ऋग्वेद,३/१३

[12] वही, ८/७४

[13] वही, २/५

[14] वही, ५/१

[15] वही, ७/१

तेजस्वी और ब्रह्मवर्चसी कहा गया है तथा यजमान के द्वारा प्रउग शस्त्र में गायत्री का उच्चारण करने से यजमान भी तेजस्वी और ब्रह्मवर्चसी हो जाता है। इसी प्रकार अन्य छन्दों को भी भिन्न-भिन्न गुणों से युक्त कहा गया है तथा यजमान के द्वारा उन छन्दों का प्रउग में उच्चारण करने से यजमान भी उन गुणों से युक्त कहा गया है। किन्तु महाव्रत के दिन गायत्री छन्द ही प्रउग में होना चाहिए क्योंकि गायत्री ब्रह्म है तथा महाव्रत का दिन भी ब्रह्म माना गया है। इस प्रकार गायत्री रूप ब्रह्म के द्वारा महाव्रतरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है- **तदु गायत्रमेव कुर्याद् ब्रह्म वै गायत्री ब्रह्मैतदहर्ब्रह्मणैव तद्ब्रह्म प्रतिपद्यते।**[16]

माध्यन्दिनसवन (मरुत्वतीय शस्त्र)

मरुत्वतीय शस्त्र **"असत्सु मे जरितः साभिवेग सत्यध्वृतम्"**[17] सूक्त से आरम्भ होता है। यह सूक्त वासुक्र ऋषि द्वारा दृष्ट है। और वासुक्र ऋषि को ब्रह्मरूप कहा गया है। महाव्रत दिन भी ब्रह्म है। इस प्रकार वासुक्र रूप ब्रह्म के द्वारा महाव्रतरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है- **तदु वासुक्रं ब्रह्म वै वसुक्रो ब्रह्मैतद् ब्रह्मणैव तद्ब्रह्म प्रतिपद्यते।**[18] इस सूक्त के पश्चात् भरद्वाज द्वारा दृष्ट **"यमुग्र तर्द"**[19] सूक्त का उच्चारण विधान किया गया है क्योंकि इससे यजमान दीर्घजीवी, तपस्वी तथा अपने सब पापों को दूर करने में समर्थ हो जाता है।[20] इसके पश्चात् **"कया शुभा सवयसः**[21] सूक्त उच्चरित करना चाहिए। इससे यजमान सम्यक् ज्ञान तथा पूर्णायु से युक्त हो जाता है और अन्त में **"जनिष्ठा उग्रः सहसे**[22] सूक्त के उच्चारण के साथ मरुत्वतीय शस्त्र समाप्त हो जाता है।

माध्यन्दिनसवन (निष्केवल्य शस्त्र)

माध्यन्दिन सवन में मरुत्वतीय शस्त्र समाप्त करके होता आग्नीध्र में तीन आहुतियाँ तथा मार्जालीय नामक वेदी में १० आहुतियाँ डालने के पश्चात् पूर्व की ओर मुख करके आदित्य की उपासना करता है। तत्पश्चात् आदित्य की उपासना के उपरान्त जल से पूर्ण घडों

---

[16] ऐ.आ., १/१/३

[17] ऋग्., १०/२४

[18] वही, १/२/२

[19] ऋग्., ६/१७

[20] ऐ.आ., १/२/२

[21] ऋग्., १/१६५

[22] वही, १०/७३

से युक्त दासियाँ मार्जालीय अग्नि की प्रदक्षिणा करती हुई अपनी ऊरु को दाँये हाथ से ताडित करती हुई कहती हैं- यह मधुर है, यह मधुर है, जो कि प्रजा की प्राप्ति का संकेत प्रतीत होता है।[23] इसके बाद महदुक्थ चित्याग्नि की पक्षिरूप में उपासना करने के पश्चात् होता वीणावादन, ब्राह्मणों को अन्नदान, ब्रह्मचारी-पुँश्चली सम्प्रवाद आदि विशेष क्रियाएँ की जाती हैं और इसके बाद होता निष्केवल्य शस्त्र को आरम्भ करता है जो कि **"तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम्"**[24] इस मन्त्र से आरम्भ होता है। इस सूक्त में नौ मन्त्र हैं तथा प्राण अर्थात् विशिष्ट अंग भी नौ माने गये हैं- दो स्तन, दो आँखें, दो कान, दो नासारन्ध्र, एक मुख **"नव वै प्राणाः"** (**नाभेरूर्ध्वं नव प्राणाः द्वौ स्तन्यौ सप्त मूर्धनि**)।[25] निष्केवल्य शस्त्र को तभी पूर्ण माना जाता है जब त्रिष्टुभ् (**तदिदास०**) तथा अनुष्टुभ् (**नदं व ओदतीनाम्०** ऋग् ८.६९.२) का सम्मिश्रण किया जाता है क्योंकि पुरुष, स्त्री के साथ ही स्वयं को पूर्ण मानता है।[26] अत्यधिक विस्तृत इस निष्केवल्य शस्त्र का समापन वसिष्ठ सूक्त **"योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि"**[27] के साथ होता है।

सायंसवन (वैश्वदेव शस्त्र)

सायंसवन में वैश्वदेव तथा आग्निमारुत शस्त्रों का वर्णन है इसलिए तृतीय सवन को वैश्वदेव सवन भी कहा गया है **"वैश्वदेवं वै तृतीयसवनम्"**।[28] वैश्वदेव को समृद्ध करने के लिए **"तत्सवितुर्वृणीमहे"** (ऋग्वेद ५.८२.४-६) क्रमशः प्रतिपद् तथा अनुचरऋच् हैं। इसके पश्चात् चतुर्थ मण्डल का ३६वाँ, ५३वां सूक्त, प्रथम मण्डल का ८९वां, १८५वां व १६४वें सूक्त के १ से लेकर ४१ मन्त्र पर्यन्त सूक्तों द्वारा संवत्सर सत्र के अन्त में महाव्रत को पूर्ण माना गया है।

सायंसवन (आग्निमारुत शस्त्र)

सायंसवन में वैश्वदेव शस्त्र के समाप्त होने पर होता द्वारा आग्निमारुत शस्त्र के प्रारम्भ में क्षेमप्राप्ति हेतु ऋग्वेद ३.२; ५.५५; १.९९; १.९४ सूक्तों का पाठ किया जाता है। उपर्युक्त प्रकार से ऐतरेय आरण्यक के अनुसार महाव्रत का दिन सम्पन्न होता है और महाव्रत का दिन

---

[23] काठक संहिता,१३/२०

[24] ऋग्,.१०.१२०.१

[25] ऐ.ब्रा.,१८/२

[26] ऐ.आ.,१/३/५

[27] ऋग्.,७/२४

[28] तै. सं.,७/५/६

समाप्त होने पर पात्र और प्रेंख को समीप के जल में धो लिया जाता है तथा आसनों को अग्नि में डाल दिया जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायंसवन त्रिविध याग ही महाव्रत हैं और महाव्रत साम या उससे सम्बन्धित निष्केवल्य शस्त्र या महदुक्थ ही महाव्रत का महत्त्वपूर्ण भाग है। आज्य और प्रउग विश्वजित् से लिये गये हैं "**आज्यप्रउगे विश्वजितः**"।[29] विश्वजित् अग्निष्टोम याग की विकृति है और विश्वजय तथा अन्न की प्राप्ति में सहायक है- '**विश्वजिद्भवत्यन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै**।[30] उल्लेखनीय है कि इस महाव्रत प्रकरण के अन्तर्गत पृथ्वी आदि आधिदैविक तत्त्वों का वाक् आदि आध्यात्मिक दृष्टि से वर्णन किया गया है। यहाँ पृथ्वी को उक्थरूप कहा गया है क्योंकि पृथ्वी से ही स्थावर जंगम सबकी उत्पत्ति होती है।[31] गवामयन सत्र में गायें आदित्यरूप बारह मासों का प्रतिरूप होने से सम्पूर्ण वर्ष का द्योतक हैं "**गावो वा आदित्याः**"।[32] इसी भाँति निष्केवल्य शस्त्र में आदित्य की उपासना तत्पश्चात् दासियों द्वारा घडों को उठाना, सूर्य द्वारा जल के वाष्पीकरण और तत्पश्चात् वृष्टि द्वारा उसके पृथ्वी पर संप्रेषण का संकेत प्रतीत होता है। यहाँ निष्केवल्य शस्त्र को पक्षी के आकार का कहना भी प्रतीकात्मक है। वास्तव में इस निष्केवल्य शस्त्र का अर्चनीय देव अग्निस्वरूप है और गायत्री, उष्णिक् तथा बृहती के २४० मन्त्र इसके अन्नस्वरूप हैं। चूँकि अन्न के द्वारा ही लोक में प्राणी प्राण धारण करते हैं। किञ्च अन्न के द्वारा इस लोक में ही सुख की प्राप्ति नहीं होती अपितु यज्ञों में हवि देकर देवताओं को प्रसन्न करके स्वर्गलोक की भी प्राप्ति होती है। साररूप में यह कहा जा सकता है कि त्रिविध यागों को ही ऐतरेय आरण्यक में महाव्रत माना है जिनका उद्देश्य भी प्रायः अन्न, प्रजा, पशुसमृद्धि तथा स्वर्ग की प्राप्ति ही है।

❑

[29] ऐ.आ.,५/१/१

[30] तै.सं,७/४/५

[31] ऐ.आ.,२/१/२

[32] ऐ.ब्रा.१८/३

ऐतरेय आरण्यक में निरुक्ति-विज्ञान

डॉ०अभिमन्यु कुमार[1]

संहिता ग्रन्थों के निर्माण के अनन्तर परवर्तीकाल के लिये यह आवश्यक हो गया था कि वह उसकी संरक्षा कर सके, उसको स्वयं तथा अन्यों के लिये अधिगम के योग्य बना सके। अतः एक ओर मन्त्रों के शुद्ध आकारों की रक्षा के लिये पदपाठ, क्रमपाठ, घनपाठ, जटापाठ, शिखापाठ, मालापाठ, रेखापाठ और ध्वजपाठ की रचना हुई। इन पाठों से सुबद्ध होने का परिणाम यह हुआ कि आज पर्यन्त रामायण, महाभारत, स्मृति और पुराण आदि की तरह वेद मन्त्रों में प्रक्षेप तथा पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस की तरह इनका पाठभेद उपलब्ध नहीं होता है। वहीं दूसरी ओर वेदमन्त्रों के अर्थ, विनियोग आदि बताने के लिये ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रन्थों की रचना चलती रही। इन तीनों ही स्तरों पर उत्तरोत्तर वेद प्रतिपाद्य ब्रह्म का सूक्ष्मतर विश्लेषण होता गया तथा साथ ही ब्रह्मरूप वाक् का भी विवेचन हुआ। यद्यपि इन सबमें अर्थ विज्ञान की ही प्रमुखता रही, पर प्रसंगवश वाणी के शरीर का विवेचन, इसके विविध पार्श्वों का आलोचन, भाषा की महिमा का गान, सूक्ष्म वाणी का विश्लेषण आदि कई शाखाओं पर प्रसंगगत चर्चा मिलती है तथा साथ ही वेदार्थ विश्लेषण के लिये इन ग्रन्थों ने यत्र-तत्र निरुक्तियों का भी सहारा लिया। प्रकृत स्थल पर ऐतरेयारण्यक में प्राप्त निरुक्तियों का उल्लेख करना है।

ऐतरेयारण्यक में कुल पाँच आरण्यक हैं, जिनमें प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय महीदास हैं, जो ऐतेरेय ब्राह्मण के भी संकलन एवं प्रवचनकर्त्ता हैं। चतुर्थ एवं पञ्चम आरण्यक के रचयिता क्रमशः आश्वलायन एवं शौनक हैं। इस आरण्यक के रचना के विषय में विद्वानों में मत भेद है। डॉ कीथ इसे यास्करचित निरुक्त से अर्वाचीन मानकर इसका समय षष्ठशती विक्रम पूर्व मानते हैं, किन्तु यथार्थ में यह निरुक्त से प्राचीनतर है।

निरुक्त का अर्थ है निर्वचन अर्थात् किसी शब्द का अर्थ क्या है और कैसे है? यह बताना। वैदिकवाङ्मय में प्रत्येक ग्रन्थ में आनुषङ्गिक रुप से यत्र तत्र निरुक्तियाँ की गयी हैं।

[1] सहायाकाचार्य, दयालबाग एजुकेशनल ईन्स्टीट्युट्, आगरा

युधिष्ठिर मीमांसक जी का व्याकरणशास्त्र के इतिहास में निम्नलिखित मन्त्र खण्डों को उद्धृत करने का उद्देश्य किसी न किसी व्युत्पत्ति या निरुक्ति के प्रति संकेत ही है-

(क) **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।**[2] (यज्ञ की निरुक्ति "यज्" धातु से)

(ख) **ये सहांसि सहसा सहन्ते।**[3] (सहस् की निरुक्ति "सह्" धातु से)

(ग) **येन देवा पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।**[4] (पवित्र शब्द की निरुक्ति "पू" धातु से)

यह निरुक्ति परम्परा रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृतिग्रन्थ, महाभाष्य एवं कालिदास के ग्रन्थों में भी विद्यमान है-

(क) **लक्ष्मणो लक्ष्मीवर्धनः।**[5]

(ख) **सुग्रीवःसंहतग्रीवः।**[6]

(ग) **रावयामास लोकान्यत्तस्माद्रावण उच्यते।**[7]

(घ) **पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्त्तासि भरणाच्च मे।**[8]

(ङ) **यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः।**

(च) **ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः**[9]

(क) **आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।**
तायदस्मादयनं पूर्वं तेन नारायणःस्मृतः॥[10]

(ख) **धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।**

(ग) **अक्षरं नक्षरं विद्यादश्नोतेर्वासरोक्षरम्।**[11]

कालिदास ने रघुवंश के द्वितीयसर्ग में दिलीप के मुख से कहलवाया--

---

[2] ऋग्वेद, १.१६४.५०

[3] वही, ६.६६.९

[4] सामवेद, उत्तरार्चिक, ५.२.८.५

[5] रामायण, बालकाण्ड, ७०.३७

[6] रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, १३.३

[7] महाभारत, वनपर्व, २७५.४०

[8] वही, अश्वमेधपर्व, ९०.५२

[9] भागवतपुराण, ३.१२.१०

[10] मनुस्मृति, १.१०

[11] महाभाष्य, १.१.२

(घ) **क्षतात्किलत्रायत इत्युदग्रःक्षत्रस्य शब्दो भुवनेषुरूढः।**[12]

इस प्रकार भारतीय वाङ्मय में निर्वचनों की भरमार है। शास्त्र कोई भी हो सबको उत्सुकता रहती थी कि इस शब्द का अर्थ क्या है। और निरुक्ति विज्ञान का लक्ष्य भी यही है। व्याकरण जहाँ मुख्यतः पदविज्ञान (Morphology) का विश्लेषण करता है, वह दो अर्थ तत्त्वों के बीच सम्बन्ध तत्त्व की व्याख्या पर ही अधिक बल देता है, वहीं निरुक्त इससे भिन्न है। अर्थ तत्त्व दो प्रकार के हो सकते हैंद- १. मौलिक अखण्ड तथा २. यौगिक खण्डयुक्त। जैसे- शिशु अखण्ड अर्थतत्त्व है, शैशव खण्डयुक्त, पठ् अखण्ड अर्थतत्त्व, पिपठिष्, पापठ्या आदि खण्डयुक्त। निरुक्त में प्रायः यौगिक अर्थतत्त्व के मूल अर्थतत्त्व की खोज है। इसी दृष्टि से यास्क ने इसे व्याकरण का खिल (पूरक) भी कहा है।[13] इस प्रकार यौगिक प्रकृतियों का निर्वचन (Etymology) है। साथ ही यह वेदमन्त्रों की व्याख्या भी करता है।[14]

इसलिये व्युत्पत्ति विज्ञान के साथ साथ अर्थविज्ञान भी है। कारण यह है किये दोनों विज्ञान परस्पर सम्बद्ध है, बिना अर्थ ज्ञान के सही निर्वचन नहीं हो सकता और बिना निर्वचन के अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता है।[15] ऐतरेय आरण्यक में भी अर्थ विश्लेषण के सन्दर्भ में अनेकत्र निरुक्तियों का उल्लेख दर्शनीय है-

१. मधुच्छन्दः[16]- मधुछन्दाश्छन्दति तन्मधुच्छन्दः "छदिः संवरणे" चुरादि। बहुलमन्यत्राऽपि संज्ञाछन्दसोः (उ०२.२३) इति लुक्।

२. यज्ञं वष्टुः[17]- यज्ञं वहतु इति। वह प्रापणे भ्वादि। वश कान्तौ, कान्तिरभिलाषः अदिप्रभृतिभ्यः शप इति शपो लुक् (सायण)।

३. शरीरम्[18]- अशीर्यत इति तच्छरीरमभवत्तच्छरीरस्य शरीरत्वम्। शॄ हिंसायाम् क्र्यादि।

४. छन्दांसि[19]- छादयन्ति इति। छद आच्छादने (चु०प०२४८)। छदिरहोर्नु ह्रस्वश्च।

---

[12] रघुवंश, २.५३

[13] तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं, स्वार्थसाधकं च। निरुक्त, १.१५

[14] अथापीदमन्तरेण मन्त्रेश्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देश्यः। वही

[15] भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि, पृ०३६२

[16] ऐतरेयारण्यक, १.१.३

[17] वही, १.१.४

[18] वही, २.१.४

[19] वही,२.१.६

५. गृत्समदः[20]- प्राणो वै गृत्सः अपानो मदः स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद्गृत्समदः। यहाँ पर सायण अपने ऐतरेयाण्यक भाष्य में गृत्समद का निर्वचन इस प्रकार करते हैं- यः प्राणोऽस्ति स एव स्वापकाले वागादीनां निगरणात्गृत्स इत्युच्यते। अपानश्च रेतो विसर्गकारक मदहेतुत्वात्मद उच्यते। तदुभयावतारो मुनिर्गृत्समदः।

६. वामदेवः[21]- देवानां वामः वामदेवः- देवा अब्रुवन् अयं वैनः सर्वेषां वाम इति तस्माद्वामदेवः।

७. भरद्वाजः[22]- प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्ति यद्बिभर्ति तस्माद्भरद्वाजः।

८. ऋक्[23]- यदेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽर्चत तस्माद् ऋक्।

९.अक्षरम्[24]- यदेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः क्षरति न चैनमतिक्षरन्ति तस्मादक्षरम्। सायण भी अपने आरण्यक भाष्य मेंद- न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरम्। आचार्य सायण भी अपने आरण्यक भाष्य में अनेक स्थलों पर पदों के निर्वचन करते हैं। यथा-

(क) युज्[25]- युज्यन्ते शरीराख्यरथे बध्यन्त इति युजः।

(ख) विषूची[26]- विश्वमञ्चन्ति परस्परं वियुज्य वर्तन्त इत्याग्नेयादयश्चतस्रो विदिशो विषूच्य इति।

(ग) सध्रीची[27]- सहाञ्चन्ति चतुष्कोणरूपेण परस्परसंश्लिष्टावर्तन्त इति प्राच्यादयश्चतस्रो दिशः सध्रीच्यः।

(घ) सामिधेनी[28]- सम्यगिध्यते ज्वाल्यतेऽग्निर्याभिस्ता सामिधेन्यः।

(ङ) हंसः[29]- हन्ति वर्षणाय मेघं भिनत्ति इति।

---

[20] वही,२.२.१

[21] वही, २.२.१

[22] वही, २.२.२

[23] वही, २.२.२

[24] वही, २.२.२

[25] ऐतरेय आरण्यक सायणभाष्य, २.३.८

[26] वही, २.१.६

[27] वही, २.१.६

[28] वही, ५.१.१

[29] वही, २.३.५

(च) निरामिन्[30]- ये शिष्या अभिद्रुहस्पदे सर्वतो गुरुद्रोहस्य स्थाने वर्तमाना निरामिणो मायया गुरुमभिमुखी कृत्य व्यवहारे बाह्ये नितरां रमयन्तीति निरामिणः।

ऐतरेयारण्यक में कुछ स्थलों पर निरुक्तियाँ अस्पष्ट-सी भी लगती हैं। यथा-

१. हिरण्यमयः[31]- स इरामयो यद्धीरामयस्तस्माद्धिरण्यमयः। यहाँ "इरामय" शब्द से हिरण्यमय का निर्वचन किया गया है, किन्तु हिरण्य शब्द हृञ्हरणे (भ्वादि) अस्मात्हर्यतेः कन्यन्हिरच (उणादि, ५.४४) इति कन्यन्प्रत्ययो भवति हिरादेशश्च बाहुलकाद्भवतः। तथा च अन्यन्नित्यधिकृत्य हृञ् इच्च इति च भोजसूत्रम्। अथवा द्विधा तु रूपं हिनोतेरमतेश्च धातुद्वयात्समुदितात्कन्यन्प्रत्ययो बाहुलकाद्रूपसिद्धिश्च। हितञ्च तद् आपदि दुर्भिक्षादौ, रमयति च सर्वदा सर्वमिति।

२. उक्थम्[32]- शरीरम् उत्थास्यति इति तदुक्थं भविष्यति इति। यहाँ उक्थ शब्द उत् स्था से निष्पन्न लगता है, जबकि निरुक्तकार वच्परिभाषणे धातु से निष्पन्न करते हैं। वच्परिभाषणे अदादि पातॄ तु दिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उणादि,२.७) इति सूत्रेण थक्सम्प्रसारणञ्च। उक्थशब्दः स्तुतिपर्यायः।

३. अत्रिः[33]- यदिदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रि। यहाँ अत्रि शब्द अद्या अत्धातु से "त्रि" प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है, परन्तु 'अज् का आगम कैसे है?

४. इन्द्रम्[34]- इदम् अदर्शमिति, इदं द्रम्सन्तमिति इन्द्रम्। यहाँ इदं दृश से इन्द्र बना प्रतीत होता है, इरा शब्द उपपदे दृणातेर्ददाते दधाते दारयतेर्वा- ऋजेन्द्राग्रवज्र विप्र (उणादि,२.२९) इति रन् प्रत्ययान्तो निपात्यते। किन्तु इस तरह की अस्पष्टता यास्क और पाणिनि के ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है। यास्क का 'सत्य' (अस् इण्धातु) शब्द का निर्वचन, पाणिनि का 'मानुष' और 'वार्धुषिक' इसके उदाहरण हैं। आचार्य पाणिनि ने मानुष[35] शब्द "मनुष्" से न बनाकर "मनु" से बनाया है। सम्भव हो उनके समय में "वपुष्", "धनुष्", "जनुष्" की तरह मनुष्य का

[30] वही, ३.१.५

[31] ऐतरेय आरण्यक, २.१.३

[32] वही, २.१.४

[33] वही, २.२.१

[34] वही, २.४.३

[35] मनोर्जातावञ्तौ षुक्च। अष्टा० ४.१.६१

स्वतन्त्र प्रयोग लुप्त हो गया हो। इसी तरह कात्यायन ने 'वार्धुषिक्[36] शब्द "वृधुष्" शब्द से न बनाकर "वृद्धि" से बनाया। अतः अस्पष्टता रहना स्वभाविक है, किन्तु किसी शब्द को अनिरुक्त नहीं छोडा जाता था। इस तरह शब्द के यथार्थ ज्ञान के लिये उसके मूल में जाने का प्रयास प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। **विश्वामित्र- विश्वस्य हवै मित्रं**[37] पहिले षष्ठी तत्पुरुष मना गया और **यस्येदं विश्वं मित्रमासीत् यदिदंकिंच, तस्मात्विश्वामित्रः**[38] बाद में बहुव्रीहि मान लिया गया। और यह मान्यता भी है कि- **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।**[39] **अथानन्वितेऽर्थे प्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद्वृत्तिसामान्येन, अविद्यमाने सामान्येप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेवं न निर्ब्रूयात्, न संस्कारमाद्रियेत्, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति, यथार्थं विभक्तीं सन्नमयेत् ।**[40]

उपर्युक्त उदाहरणों में समास, प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना की यथार्थता देखकर आश्चर्य होता है कि आज की तरह ही हजारों वर्ष पहिले भी आचार्यगण प्रत्येक शब्द के पीछे छिपे इतिहास को ढूँढने का प्रयास करते थे और अधिकांश शब्दों का निर्वचन सही कर लेते थे। अतः स्पष्ट है कि संहिता और ब्राह्मण काल में भी भारतीय विद्वान् निरुक्ति विज्ञान से पूर्णतः परिचित थे और इसके महत्त्व को समझते थे।

❑

[36] वृद्धेर्वृधुषिभावो वक्तव्यः। वही, ४.४.३० पर पठित वार्तिक

[37] ऐत०, १.२.२

[38] वही, २.२.२

[39] महाभाष्य, पस्पशान्हिक

[40] निरुक्त, २.१

ऐतरेय आरण्यक में निर्वचन का स्वरूप

डा० करुणा आर्या[1]

प्रत्येक वेद के अपने अपने आरण्यक हैं। सब आरण्यकों में बृहदारण्यक विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है। किन्तु अन्य आरण्यकों में ऐतरेय आरण्यक का विशेष महत्त्व है। प्रथम तो यह संहिताओं में प्राचीनतम ऋग्वेद से सम्बद्ध है दूसरा इसमें गवामयन सत्र में अन्तिम से पहले दिन अनुष्ठेय महाव्रत कर्म का विस्तृत वर्णन है। आरण्यक-साहित्य, विविध विशाल तथा परमोपयोगी सामग्री से परिपूर्ण एक बृहत्कोष है। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने के कारण आरण्यकों का अपना विशेष महत्त्व है। आरण्यकों की भाषा वैदिक और लौकिक भाषा के बीच की कड़ी है।

ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक के पाँच भाग हैं, जिनको आरण्यक नाम से ही कहा जाता है। प्रथम आरण्यक में उक्थ (प्राण) का वर्णन है तथा चार से छः अध्याय में ऐतरेयोपनिषद् है। तृतीय आरण्यक में संहिता के निर्भुज प्रतृण्ण तथा उभयमन्तरेण प्रकारों का वर्णन है। प्रथम तीन आरण्यकों के रचयिता ऐतरेय महीदास माने जाते हैं। चतुर्थ आरण्यक में महानाम्नी ऋचाओं का संकलन है। पंचम आरण्यक में माध्यन्दिन सवन के निष्केवल्य शस्त्र (स्तोत्र) का वर्णन किया गया है।

ऐतरेय आरण्यक का समय

भगवद्दत्त प्रभृति विद्वानों के अनुसार महाभारत युद्ध विक्रम संवत् से ३००० वर्ष से कुछ पूर्व हुआ था। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण का समय उससे भी पूर्व होना चाहिए तथा प्रथम आरण्यक का समय भी यही होगा। यह आरण्यक यास्काचार्य से भी पहले का है क्योंकि यास्क का समय ५५० ई०पू० है और यास्क गोपथ ब्राह्मण के उदाहरण देते हैं। निरुक्त शास्त्र और गोपथ ब्राह्मण का समय ७०० ई० पू० है अत एव ऋग्वेद के इस ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक का काल ८००-७०० से पूर्व हो सकता है। इस काल निर्धारण के तथ्य से स्पष्ट होता है कि यास्क से पूर्व ऐतरेय आरण्यक में निर्वचन प्रक्रिया का प्रचलन था।

ऐतरेय आरण्यक में निर्वचन का स्वरूप

[1] सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आरण्यकों की वैदिक विषयगत स्थिति है जिसमें वैदिक मन्त्रों एवं वैदिक यज्ञों की विशेष व्याख्या के साथ शब्दों के निर्वचन भी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक आलोक में प्राप्त होते हैं। वस्तुतः आरण्यक ग्रन्थों के विषय के आधार पर परिभाषा की कल्पना करने की अपेक्षा आरण्यक ग्रन्थों के स्वरूप एवं विषय पर विचार कर आगे बढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। यथा-

महाव्रत के निष्केवल्य शस्त्र में पृथिवी आदि का वाक् आदि आध्यात्मिक दृष्टि से वर्णन किया गया है। पृथिवी को उक्थरूप कहा गया है।[2] क्योंकि पृथिवी के द्वारा ही स्थावर जंगम सब की उत्पत्ति होती है। अत एव पृथिवी को उक्थ कहा गया।[3] अन्तरिक्ष और द्युलोक को भी उक्थ कहा गया है क्योंकि अन्तरिक्ष में पक्षी उड़ते हैं और द्युलोक से वृष्टि द्वारा औषधियों आदि की उत्पत्ति होती है। पुरुष का महत्त्व बताते हुए कहा गया कि पुरुष ही उक्थ है, प्रजापति है।[4] आध्यात्मिक अर्थ में पुरुष का मुख उक्थ है,[5] वाक् अर्चनीय देव है तथा गायत्री, उष्णिक्, बृहती ये तीन अशीतियाँ मन्त्र स्वरूप हैं। नासिका उक्थ है। प्राण अर्चनीय देव है तथा तृचाशीति अन्न है। इसी प्रकार ललाट उक्थ है, चक्षु अर्चनीय देव है तथा तृचाशीति अन्न है। यहाँ अन्न और अन्नाद दोनों को पृथिवी कहा गया है। क्योंकि पृथिवी से ही सबकी व्युत्पत्ति हुई है।

प्राण की विशिष्टता बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार चक्षु आदि के निर्गमन से शरीर नष्ट होता है, प्राण के निर्गमन से शरीर नष्ट होता है, उसी प्रकार शरीर में प्राण के प्रवेश करने से शरीर उठ जाता है। इसी कारण प्राण को उक्थ कहा गया है। **यथा- तदेतदुक्था प्राण एव। प्राण उक्थमित्येव विद्यात्।** ऐ० आर० २.७.४

और आगे बहुत ही सुन्दरविधि से प्रातः सायं को प्राण और अपान के द्वारा समझाया है- "**तं देवाः प्राणयन्त स प्रणीतः प्रातायत प्राताायीती तत्प्रातरभवत्समागादिती तत्सायमभवदहरेवप्राणे रात्रिरपानः**" (ऐ० आर० २.१.५)

---

[2] उत्तिष्ठति अनेन इति उक्थम्। ऐ०आ० २/१/२

[3] उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिद मे वोक्थमियमेव पृथिवीतो हीदं सर्वमुत्तिष्ठति यदिदं किंचा ऐ०आ० २/१/२

[4] पुरुषा एवोक्थमयेव महान्प्रजापतिरहमुक्थमस्तीति विद्यात्। ऐ०आ० २/१/१

[5] तस्य मुखमेवोक्थं यथा पृथिवी तथा। तस्य वागर्कोऽन्नमशीतयोऽन्नेन हीदम। ऐ० आ० २/१/२

अर्थात् वाक् आदि देवताओं की उपासना करने पर प्राण ने स्वयं को प्रसारित किया और प्राताय के कारण ही प्रातः नाम पड़ा तथा रात्रि में वाक् आदि प्रसारित देवताओं को संकुचित कर दिया और सायं की संज्ञा दी गई। वाक् आदि के प्रसारण के कारण दिन को प्राण तथा संहार के कारण रात्रि को अपान कहा गया है। इन शब्दों का कितनी सरलता से विश्लेषण आरण्यकों में निहित है।

वैदिक प्रतीकों का स्पष्ट उपयोगितामूलक स्वरूप यहाँ देखने को मिलता है, यथा मानसिक सृष्टि[6], आध्यात्मिक सृष्टि एवं मैथुनी सृष्टि[7] का पारस्परिक सम्बन्ध वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आरण्यक में द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ प्राणविद्या के उपदेश में **"सूददोहा" यथा प्राणो वै सूददोहाः प्रायेण पर्वाणि संदधाति" सूदं स्वादं सरसं दोग्धीति सूददोहाः कामधेनुरित्यर्थः इति सायणः।**

"**जनिष्ठा उग्रः**" नामक सूक्त का आवृत्तिविशेषविधान से पाठ करने पर एक सौ एक (१०१) संख्या होती है। यही संख्या मानव शरीर में बतलायी गयी है। मानव शरीर भी (१०१) अवयव वाला है। पाँच अंगुलियाँ, अंगुलियों के चार-चार पर्व मिलाकर कुल बीस, कक्ष के दो भाग, एक बाहु, एक नेत्र, एक कंधा, कुल पच्चीस; इस प्रकार वामभाग भी मिलाकर पचास (५०) कटिप्रदेश नीचे से वाम दक्षिण मिलाकर पचास सभी को जोड़ने से सौ संख्या हुई और आत्मा मध्यदेह में विराजमान है। इस प्रकार (१०१) संख्या से युक्त यह मानव शरीर है। मानव शरीर भी ब्रह्ममय है।[8]

इस प्रकार से शब्दों की व्युत्पत्ति प्रतीकात्मक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पदे-पदे दर्शनीय है।

ऐतरेयारण्यक स्थित निर्वचन एवं यास्क

ऐतरेय आरण्यक में आरम्भ में ही महाव्रत शब्द का निर्वचन किया गया है यथा- **महाव्रतप्रशंसितमारव्यायिका मुखेन तच्छब्दनिर्वचनं दर्शयति।**

---

[6] मनसि वै सर्वे कामाः श्रिताः। मनाहि सर्वान्कामान् ध्यायति।

[7] स्वादो स्वादीयाः स्वादुमा सृजा समिति मिथुनं वै स्वादु अजा स्वादु मिथुनेनैव तत्प्रजां संसृजति इति। ऐ०आ० १/३/१२

[8] पंचांगुलयश्चतुष्पर्वा द्वे कक्षसी दोश्चाक्षश्चां सफलकं च सायंच विंशतिः पंचविंशानीतराणि हयांगानि तच्छतमात्मैकशततमः। ऐ० १/२/२

महाव्रत

इन्द्रो वै वृत्रं महानभवदयन्महानभवत्तन्महाव्रतमभवन्तन् महाव्रतस्य महाव्रतम् इति।

महाव्रत नाम का कर्म है। इस कर्म को आरण्यक में विकृति यज्ञ कहा है। निरुक्ति कह रही है कि इन्द्र ने वृत्र का वध किया इससे वह महान् हो गया। जो महान् हो गया, वह महाव्रत है। यही महाव्रत का महाव्रत तत्त्व है। इसी शब्द को यास्काचार्य कहते हैं-
जातवेदः महिव्रतः- महाव्रतः[9]- अर्थात् महान् कर्म। महाव्रत का अर्थ कर्मवीर और व्रत का अर्थ कर्म है। यही अभिप्राय आरण्यक में यास्क से वर्षों पूर्व सिद्ध हो चुका है कि महाव्रत अर्थात् महान् कर्म। इस कर्म को विधिवत् सम्पन्न होने के लिए आरण्यक का आरम्भ महाव्रत से किया गया है।

अतिथि

उपर्युक्त महाव्रत निमित्त पुष्टि की कामना के लिए **विशो विशो वो अतिथिमिति पुष्टिकामः** इस पन्द्रह ऋचा वाले सूक्त का पाठ करें। यहाँ इस मन्त्र में आये अतिथि शब्द पर पूर्वपक्ष उठाकर प्रश्न किया गया है कि इस सूक्त का पाठ न करें क्योंकि इस सूक्त में आया हुआ अतिथि शब्द दरिद्र का वाचक है। जो इस सूक्त का पाठ करेगा वह अतिथि अर्थात् दरिद्र होकर याचनार्थ परगृह में याचक बनकर हमेशा जाता है। इसका खण्डन करते हुए कहते हैं- **यौ वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति इति।** अर्थात् जो पुरुष सन्मार्गगामी होता है तथा सन्मार्ग प्राप्त जनों में अतिशयरूप से प्रशस्ति पाता है, वह अतिथि होता है। यह तो प्रवृत्तिनिमित्त प्राशस्त्य है न कि दारिद्र्य।

यास्क-

अतिथिरभ्यतितो गृहान्भवति।[10] **अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा पर गृहणातीति वा।** इधर उधर घरों में पहुँचता है। **तिथिषु-** पौर्णमासी आदि तिथियों में परकुलों को स्वज्ञान से तृप्त करता है। **दुरोण इति गृहनाम- दुःखा भवन्ति दुरतपाः, इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्।** तो इस प्रकार से यहाँ भी साम्यता है कि अतिथि एक विद्वान् शूर,

---

[9] नि० (३/३) प्रिय मेधादत्रिवज्जातवेदोषिरूपवत्।
अंगिरस्वन्महिव्रप्रस्कण्वस्य श्रुधीहवम्।। ऋग्वेद १/४५/६

[10] नि० (४/१) जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण।

वीर, व्यक्तित्व अर्थात् श्रेष्ठतम पुरुष को अतिथि माना है जैसा कि ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है।

गायत्र-

गायत्रं प्रउमं कुर्यादितित्याहुस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं, गायत्री तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवतीति। ऐ०आ० १.१.३

गायत्री छन्द तेज एवं ब्रह्मवर्चस से युक्त है या तद्रूप है अतः प्रउग (शस्त्र) स्तुति है। उसे इसी छन्द में पढ़ा जाये। **तद् गायत्रमेव कुर्याद् ब्रह्म वै गायत्री ब्रह्मै तद्ब्रह्मणैव तद्ग्रम प्रतिपद्यते।**

यास्क-

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।[11]

इस ऋचा में **गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः** यही व्युत्पत्ति की है। दोनों ही शास्त्रों में गायत्र शब्द स्तुति परक ही है।

मधु एवं मधुच्छन्दा-

अर्थो अन्नं वै मधु सर्वं वै मधु सर्वे वै कामा मधु तद्यन्माधुच्छच्छन्दसं शंसति सर्वेषां कामानामवरुणद्धि इति। ऐ०आ० १.१.३

मक्षिकावाची जो मधु शब्द है। तन्निष्ठ मधुरता दिखाई देती है। अन्न के प्रति जो प्रियता है वह भी लक्षित होती है। वस्त्रादि उपभोग विलासादि की प्रियता भी लक्षित होती है किन्तु जिससे सभी कामनाएँ सम्पन्न हो जायें, वह मधु अभीष्ट है।

यास्क- **"मद तृप्तौ तस्य मधु"**[12] इस व्युत्पत्ति के माध्यम से मधु शब्द बना है। निरुक्त में कई स्थलों पर मिष्ट, शहद, इनके लिए प्रयुक्त हुआ है यथा **मध्वा समंजनम्।**[13] **वनस्पते मधु मा दैव्येन**[14]- वनस्पतियों का मधु के साथ सेवन करें इत्यादि।

वीर

(प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिच्छा) वीरमिति वीरवद्रूपसमृद्धमेतस्य हनो रूपम्।

---

[11] नि० अ० १.१

[12] नि० अ० १.१

[13] नि० अ० ८.२

[14] नि० आ० १२/४

यास्क-

आचार्य ने भी इसी अर्थ में प्रयोग किया है- **वीरवन्तः कल्याणवीरा वा। वीरो वीरयत्यभित्रान्। वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः वीरयतेर्वा।**[15] उत्तम वीर, शत्रुओं को कपाँ देने वाले, शत्रुओं के अभिमुख जाने वाले, पराक्रम वाले यह निरुक्ति की है।

वृषत्

त्वं सोमक्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वेति वृषण्वद्धा इन्द्रस्य रूपमैन्द्रमेतदहरेतस्याहानो रूपम् इति।[16] अर्थात् हे सोम तुम यज्ञकर्मों से वर्षक बनकर महान् बनो। इन्द्र का रूप भी वृषण के समान अर्थात् फलाभिवर्षक (कामनाओं का वर्षक) है। वृषण इन्द्र का द्योतक है।

यास्क भी इन्द्राग्नि को सम्बोधित कर वृषणशब्द सुख की वर्षा करने वाले अर्थात् कामनाओं के शुभकर्मों के रूप में मानते हैं।[17]

वाजिन

पिबन्त्यपोत्यं न मि हे विनयन्ति वाजिनमिति वाजिमद्वा इन्द्रस्य रूपैमैन्द्रमेतदहतेरस्याहनो रूपम् इति।[18] अर्थात् मेघ में ही जलराशियाँ रहती हैं। वाजी शब्द अन्नवाचक है। श्रुति कहती है "**अन्नं वै वाजः**" इस अन्न का कारणभूत मेघ ही है, जो वर्षाकर अन्न उत्पन्न करता है। यहाँ अत्य शब्द अश्व का वाचक है। जिस प्रकार अश्वारूढ जब अश्व को प्रेरित करता है। मेघ को प्रैर्य (प्रेरणा पाने वाला) इन्द्र को प्रेरक कहा है। यहाँ वाजिन से युक्त इन्द्र के रूप पर प्रकाश डाला गया है। यही निरुक्त में भी सूर्यरश्मियों के लिए वर्णित है।[19] द्युस्थानीय देवों में पठित है। यथा- **शं नो भवन्तु वाजिनो** आदि।

प्रेंख

अन्तरिक्षस्थ वायु लोक में इसे दोला कहते हैं। **तदाहुः किं प्रेंखस्य प्रेंखत्वामित्ययं वै प्रैखो योऽयं पवत एष ह्येषु लोकेषु प्रेंखत इति तत्प्रेंखस्य**

---

[15] ऐ० आ० १/२/१

[16] नि० अ० १/३

[17] परिवृषणा वाहि यातमथा सोमस्यापिबतं सुता। (ऋग्वेद १/१०८/१०) नि० अ० १२/३

[18] ऐ०आ० १.२.१

[19] नि० आ० १२.४

प्रेंखत्वम् इति। जो वायु अन्तरिक्ष में संचरणशील है। वह प्रेंख शब्दाभिधेय है। जिस कारण से यह वायु पृथिवी आदि लोकों में प्रकर्ष रूप से चलती है, उसी कारण से वायुवत् अन्तरिक्ष में भी प्रेंख चलती है **प्रकर्षेण ईखनम्**- प्रकर्ष रूप से ईश्वन (डोलना, हिलना) करने से प्रेंख नाम पड़ा। विशेष- माध्यन्दिन सवन में मरुत्त्वतीय स्तोत्रों का पाठ प्रेंख पर आरूढ़ होकर किया जाता है।

विश्वामित्र

तदु वैश्वामित्रं विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वानि भास इति।[20]

वे सभी के हितैषी मित्र के समान है। उनका सम्पूर्ण जगत् मित्र ही था इसलिए विश्वामित्र नाम हुआ। जो इस सूक्त को जानता है, पढ़ता है, कर्म में प्रयोग करता है, उसका सम्पूर्ण संसार मित्र हो जाता है। जिस कर्म में इस सूक्त को जानने वाला होता (ऋत्विक् होता है) वहाँ सब मित्र के समान होते हैं। **जगतः मित्रम्** इस व्युत्पत्ति के द्वारा मुनि विश्वामित्र कहलाते थे- **विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद, येषां चैव विद्वानेतद्धोता शंसति इति।**

यास्क-

विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैलवनस्य पुरोहितो बभूव। विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम् इति[21]- विश्वामित्र का अर्थ है- सर्वमित्र और सर्व का अर्थ है- सब जगह गया हुआ। **सृ गतौ पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः**- पिजवन अर्थात् स्पर्धा के योग्यवेग वाला अर्थात् बहुत वेगवान् सदा कर्त्तव्य पारायण। **स विश्वामित्रः** दोनों ही शास्त्रों में प्रायः एक ही अर्थ है।

उपसंहार

उपर्युक्त ऐतरेय आरण्यक तथा यास्क के निर्वचनों से ज्ञात होता है कि निर्वचन प्रक्रिया का यास्क तक क्रमशः उत्तरोत्तर परम्परा क्रम चलता गया है जो कि महाव्रत, अतिथि, गायत्र, मधु, वीर, वृषत्, वाजिन, प्रेंख, विश्वामित्र आदि शब्दों के निर्वचन देखने से

---

[20] ऐ०आर० १.२.२

[21] नि० अ० २.७

दृष्टिगोचर होता है। यास्क ने क्रमबद्ध करके अत्यन्त सरल भाषा का प्रयोग किया है, वहीं ऐतरेय आरण्यक में सुसंस्कृत छन्दोबद्ध भाषा समयावस्थानुसार प्रयुक्त है। छन्दोबद्ध होने के कारण अनभ्यासियों को किंचित् श्रम की आवश्यकता होती है अतः कह सकते हैं कि ऐतरेय आरण्यक में निर्वचनों का आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक परक स्वरूप इतर ऋषि के गहनीय तप का साक्षात् निदर्शन है।

❑

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

तैत्तिरीय आरण्यक में स्वाध्याय मीमांसा

डा० सत्यकेतु[1]

महर्षि व्यास का कथन है, जो उन्होंने महाभारत के परिप्रेक्ष्य में कहा है वास्तव में उसका विनियोग महाभारतेतर यदि किसी साहित्य के लिये हो सकता है, तो वह वेद ही है-

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।[2]

महर्षि मनु ने भी **भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**[3] एवं **सर्वज्ञानमयो हि स:**[4] कहकर वेद की सार्वभौमिकता, सर्वविषयता एवं त्रिकालाबाधित प्रासङ्गिकता का समर्थन किया है। वैदिक मन्त्रों से सर्वसामान्य का परिचय कराने हेतु ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हुई। विविध कर्मकाण्डों में मन्त्र विनियोग का कथन करते हुए ब्राह्मणग्रन्थों ने सर्वसामान्य को वैदिक ज्ञानधारा का रसास्वादन कराया। इसी परम्परा में कालान्तर से आरण्यक वाङ्मय का उद्भव दृष्टिगत होता है।

आरण्यक वैदिक वाङ्मय की वह विशिष्टविधा है, जिसमें मन्त्र एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रतिपाद्य को वैज्ञानिक तकनीकि के आश्रय से तर्क की निकष पर कसा गया है। आरण्यक-साहित्य ने ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रोक्त कर्मकाण्ड के बाह्य आवरण के पीछे छिपे यथार्थ को प्रकट किया अतएव महाभारतकार महर्षि व्यास ने कहा है कि-

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्य औषधिभ्योऽमृतं यथा॥[5]

मानव मन स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होता है। ज्ञानावबोध की यात्रा नदी के बृहत् कूलों से होती हुई उसके सूक्ष्म उद्गम स्थल तक पहुँचने को उत्सुक रहती है। इसी मानवीय सहज प्रवृत्ति का परिणाम आरण्यक वाङ्मय है। कर्मकाण्ड का अतिरेकमय बहुव्ययसाध्य स्वरूप से उद्भूत जनसामान्य की अरुचि ने आरण्यक वाङ्मय की सृष्टि को

---

[1] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग ल०वि०वि० लखनउ, उ०प्र०**

[2] महाभारत- आदि. ५६/३३ एवं स्वर्गारोहण ५/३८

[3] मनुस्मृति १२/९७

[4] मनुस्मृति २/७

[5] महाभारत अनुक्रमणिका १/१/२९१

प्रेरित किया। वस्तुतः स्थूल कर्मकाण्ड के मर्मों को प्रतीकात्मक विभिन्न आख्यानों से प्रतिपादित करते हुए उसके दार्शनिक भावों का उपस्थापन आरण्यक वाङ्मय का मुख्य उद्देश्य है।[6] उपनिषद् अध्यात्म की जिस उच्चावस्था पर हैं, उसकी पृष्ठभूमि आरण्यक वाङ्मय ही हैं।

आरण्यकों में तैत्तिरीय आरण्यक का अन्यतम स्थान है। इसमें दश प्रपाठक हैं। इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है। दश प्रपाठकों के इस विभाजन को अरण भी कहा जाता है। इन अरणों के नाम सामान्यतः उनके प्रारम्भिक मन्त्र के आदि शब्द के आधार पर हैं। ये क्रमशः भद्र, सहवै, चिति, युञ्जते, देववै, परे, शिक्षा, ब्रह्मविदा,भृगु एवं नारायणीय हैं। इन दश प्रपाठकों/अरणों में से प्रथम छः की ही आरण्यक के रूप में प्रसिद्धि है। सप्तम, अष्टम तथा नवम प्रपाठक को तैत्तिरीय उपनिषद् के नाम से जाना जाता है। दशम प्रपाठक महानारायणीय उपनिषद् के नाम से विख्यात है।[7]

तैत्तिरीय आरण्यक के द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पञ्चमहायज्ञों का वर्णन है। पहले यज्ञोपवीत का विधान वर्णित किया है अनन्तर सन्ध्योपासना विधि का वर्णन मिलता है। इसी क्रम में पञ्चयज्ञों का विधान किया गया है- **पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति सन्तिष्ठन्ते।**[8] स्वाध्याय के विषय में चर्चा से पूर्व ही आरण्यककार ने द्वितीय प्रपाठक में तदर्थ अपेक्षित यज्ञोपवीत एवं सन्ध्योपासनादि कर्मों का विधान कर दिया है। शुद्ध पवित्र होकर अध्ययन करना चाहिये अतएव कूष्माण्डादि प्रायश्चित्त होम का विधान भी पहले प्रतिपादित कर दिया गया है। पुनः अनुकूल परिस्थिति का निर्माण कर अध्ययनमूलक ब्रह्मयज्ञ का प्रतिपादन है।

कभी उत्पन्न न होने वाला ब्रह्म, निर्मल तपःपूत अन्तःकरण वाले ऋषियों के समक्ष स्वयम्भू ब्रह्म (वेद रूप) में प्रत्यक्ष हुए। यही ऋषियों का ऋषित्व है कि जिनके पास ब्रह्म (वेद) प्रकट हुआ।[9] यास्क इसी को **ऋषिर्दर्शनात्,**[10] **मन्त्रद्रष्टार ऋषयो वभूवुः**[11] तथा **न**

---

[6] द्रष्टव्य- वैदिक साहित्य और संस्कृति का समीक्षात्मक इतिहास पृष्ठ-२३७

[7] द्रष्टव्य- वैदिक साहित्य और संस्कृति का इतिहास- पृष्ठ २४५

[8] तै. आ. २/१०

[9] अजान ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भूभ्यानर्षत ऋषयोऽभवन्तदृषीणाम् ऋषित्वम्। तै. आ. २/९

[10] निरुक्त २.११

[11] निरुक्त

प्रत्यक्षमनृषेः मन्त्रमस्ति[12] आदि निर्वचनों से व्याख्यायित करते हैं। तब उन ऋषियों ने ब्रह्म की कामना से ब्रह्मदेवता की आराधना की। इस आराधना के समय उन्होंने उसको स्वाध्याय रूप में पाया। उसकी उपासना करते हुए देवों की पूजा की। इससे सभी देवगण प्रसन्न हुए।[13] आगे आरण्यक ने स्वाध्याय को यज्ञ का रूपक प्रदान किया है। ऋग्वेद की ऋचाओं का स्वाध्याय देवताओं के लिये पयस् (दूध) की आहुति के समान तृप्तिकारक होता है। यजुषों का स्वाध्याय करने पर देवता उतने ही तृप्त होते हैं, जितने घृत की आहुतियों से यज्ञ करने पर। इसी प्रकार सामों के स्वाध्याय से देवताओं की तुष्टि यज्ञ में सोमाहुति के समान हुई। अथर्व मन्त्रों का स्वाध्याय मधु आहुति के समान देवताओं को तुष्टि-तृप्तिप्रद हुआ। ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी आदि का स्वाध्याय मेदाहुति के समान सिद्ध हुआ। इससे ऋषिगण ब्रह्मसायुज्य को पा गये।[14]

आरण्यकों में स्वाध्याय की उपर्युक्त विधि के निर्देशानन्तर कुछ उदार विधि का भी प्रतिपादन किया गया है। जैसे गाँव में मानसिक स्वाध्याय का विधान है। यह रात में भी किया जा सकता है। स्वाध्याय चलते हुए, बैठकर अथवा सोये हुए भी अवश्य करें।[15] ये नियम रुग्ण बलहीन के लिये हैं, जो परिस्थितिवश असमर्थ है। इसका निहितार्थ यही है कि स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक होता है।

स्वाध्याय के दो अनध्याय बताये गये हैं। जब व्यक्ति चिताधूम से लौटा हो अथवा अन्य मृत्युसम्बन्धी किसी प्रकार के अशौच में हो तो स्वाध्याय को बाधित कर सकता है। दूसरा स्थानसम्बन्धी अनध्याय है, जिसमें कहा गया है कि मूत्र एवं पुरीष स्थान पर स्वाध्याय न करें।[16] इससे आगे स्वाध्याय की प्रशंसा का वर्णन किया गया है। इस स्वाध्याय रूप ब्रह्म

---

[12] निरुक्त

[13] तां देवतामुपातिष्ठन्त यज्ञकामास्त एतं ब्रह्मयज्ञमपश्यन्तमाहरन्तेनायजन्त। तै. आ. २/९

[14] यदृचोऽध्यगीषतः ताः पय आहुतयो देवानामभवन्, यद्यजूंषि घृताहुतयो यत्सामानि सोमाहुतयो यदर्थवाङ्गिरसो मध्वाहुतयो यद्ब्राह्मणानीतिहासपुराणानि कल्पगाथानाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्।.........ब्रह्मणस्सायुज्यमृषयोऽगच्छन्। तै. आ. २/९

[15] ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं वेति स्माह शौच आह्नेय उतारण्येऽबल तिष्ठन्नुत व्रजन्नुतासीन उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्यायं तपस्वी पुण्यो भवति य एवं स्वाध्यायमधीते। तै. आ. २/१२

[16] तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदाऽत्माऽशुचियद्देशः। तै. आ. २/१५

यज्ञ की समृद्धि देवता ही हैं।[17] अन्य यज्ञों की भाँति इस यज्ञ में द्रव्यादि की आवश्यकता नहीं होती है। रात्रि के पश्चात् प्रातः उषाकाल में उठकर चलते हुए, बैठे, लेटे स्वस्वसामर्थ्यानुसार स्वाध्याय अवश्य करें।[18] शरीर जब तक साथ दे स्वाध्याय अवश्य करें। स्वाध्यायशील व्यक्ति सभी लोकों को जीत लेता है और सभी ऋणों से मुक्ति पा जाता है। यह सभी यज्ञों का मूल है। स्वाध्याय-कर्ता देवमार्ग व पितृमार्ग आदि सभी से उर्ऋण हो जाता है।

यहाँ एक आख्यायिका के माध्यम से स्वाध्याय को अपहतपाप्मा की उपाधि से विभूषित किया गया है। रोचक आख्यायिका में बताया गया है कि एक बार उत्पन्न होते ही अग्नि पाप से ग्रस्त हो गई। उस अग्नि को देवताओं ने आहुतियों से पापरहित किया तो आहुतियाँ पापग्रस्त हो गई। तब आहुतिनिमित्त पाप को यज्ञ से पावित किया गया। अब यज्ञ पापग्रस्त हो गया तब यज्ञ को दक्षिणा से पापमुक्त किया। तब दक्षिणा पापग्रस्त हुई। दक्षिणा का पापमोचन ब्राह्मण के सम्बन्ध से हुआ। ब्राह्मण वेदों के सम्बन्ध से पापरहित हुआ और वेद स्वाध्याय से पवित्र हुए तथा स्वाध्याय अहेतुकरूपेण पवित्र है। यह स्वयं अपहतपाप्मा है। क्योंकि इस स्वाध्याय के माध्यम से देवता भी पवित्र होते हैं। इस महत्त्वाधायी स्वाध्याय को जो त्यागता है (छोड़ता है) उस व्यक्ति की वाणी फलवती नहीं होती। वह स्वर्गसुख से वञ्चित हो जाता है। इस अर्थवादपरक आख्यायिका की प्रक्रिया को वेदमन्त्र से पुष्ट किया गया है-

यस्तित्याज शचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥[19]

जो मित्र स्वरूप इस परमकल्याणकारक वेद का परित्याग करता है उसकी वाणी में श्रेय का सर्वथा अभाव हो जाता है। वह जो कुछ सुनता है मिथ्या सुनता है। वह सुकृत का मार्ग भी नहीं जानता है स्वाध्याय के अभाव से। इस भाँति वह इहलोक तथा परलोक के उभयविध सुखों से वञ्चित रह जाता है।

❑

[17] समृद्धिर्दैवतानि य एवं विद्वान्। तै. आ. २/१५

[18] तै. आ. २/१५

[19] ऋग्वेद १०/७१

मैत्रायणीयारण्यके ब्रह्मतत्त्वविचारणा

अङ्कित:[1]

ब्राह्मणग्रन्थानां कर्मोपासनाज्ञानाभिधानि त्रीणि काण्डानि सन्ति। एतेषां यद् उपासनाकाण्डं वर्तते, तत् आरण्यकमित्युच्यते। आरण्यकेषु ब्रह्मविद्याविवेचनं यज्ञादीनां च सूक्ष्मं रहस्यं प्रतिपादितं वर्तते। आत्मतत्त्वं प्राणसिद्धान्ताः, पुनर्जन्म, कर्मसिद्धान्ताः, नैतिकमूल्यानि चात्र विस्तरेण विविच्यन्ते। एते ग्रन्थाः अरण्येषु भवत्वाद् आरण्यकनाम्ना ज्ञायन्ते। अरण्ये भूयमानानि कर्माणि अध्ययनाध्यापनं, मननं, चिन्तनं, शास्त्रीयचर्चा, आध्यात्मिकविवेचनं च आरण्यकमन्तर्गच्छन्ति। आचार्य सायणोऽपि इमं मतमेव स्तौति-

अरण्याध्ययनादेतत् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्षते॥[2]

गोपथब्राह्मणे तु एते ग्रन्थाः सरहस्याः उच्यन्ते –

'सर्वे वेदाः साङ्गाः सरहस्याः सब्राह्मणाः'।[3]

आरण्यकग्रन्थाः ब्राह्मणोपनिषन्मध्यवर्तिशृंखलावद्वर्त्तन्ते। एते ग्रन्थाः सकामकर्मभ्यः निवर्त्त्य मनुष्यं निष्कामकर्मसु योजयन्ति। सकामानां यज्ञादिप्रक्रियाणां दार्शनिकं विवेचनं प्रस्तुवन्ति। अत एते ग्रन्थाः वेदानां नवनीतमित्युच्यन्ते-

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्यः ओषधिभ्योऽमृतं यथा॥[4]

---

[1] **शोधच्छात्रः, संस्कृत-विभागः, जवाहरलाल-विश्वविद्यालयः, नवदेहली**

[2] तै.आ. सा.भा. श्लोक।

[3] गो.ब्रा. १.२.१०।

[4] महाभारत १.३३१.३

डॉ. राधकृष्णन् आरण्यकविषये उक्तवान् यदेते वैखानसेभ्यः संन्यासिभ्यश्च आवश्यकीमध्यात्मसामग्रीं ददति। डॉ. मैक्डोनल प्रो. ओल्डनबर्गश्च आरण्यकान् अध्यात्मग्रन्थसंज्ञयालंकुर्वाणौ प्रशंसतः।

सम्प्रति ऋग्वेदीयौ ऐतेरेयशांखायने, शुक्लयजुर्वेदीयं बृहदारण्यकम्, कृष्णयजुर्वेदीये तैत्तिरीयमैत्रायण्यारण्यके, सामवेदीयञ्च तवल्काराण्यकमितीमे षडेवारण्यकग्रन्थाः समुपलभ्यन्ते। मैत्रायण्यारण्यकम् एवेष्वान्यतमं कृष्णयजुःसम्बद्धम्। एतद् मैत्रायण्युपनिषदपि उच्यते। अस्मिन् सप्तप्रपाठकाः सन्ति। एषु आत्मतत्त्वस्य ब्रह्मविद्यायाश्च विशदं विश्लेषणं विहितं वर्तते। अत्र चत्वारः प्रश्नाः विशेषरूपेण चिन्त्यन्ते -

1. आत्मतत्त्वं किमर्थं ज्ञातव्यम् ?

2. आत्मतत्त्वं किम्?

3.पाप-पुण्यपफलानां भोक्ता कः ?

4. आत्मसायुज्यं कथं भवेत् ?

1. आत्मतत्त्वं किमर्थं ज्ञातव्यम् ?

आरण्यकेऽस्मिन् भगवतः भास्करस्य राज्ञः बृहद्रथस्य च संवादो वर्तते। राजा बृहद्रथः बहुकालं तपस्तप्त्वा प्रसन्नात् भास्करात् आत्मतत्त्वं जिज्ञासितवान्। भास्करः आत्मतत्त्वज्ञानं कठिनमित्युक्त्वा तं कञ्चिदन्यं वरं प्रार्थयितुं ब्रवीति। तदानीं राज्ञा बृहद्रथेन अन्यवरप्रार्थनां निराकृत्य यत्किञ्चिदुच्यते तदस्य प्रश्नस्योत्तरणायालं वर्तते। तेनेदं निष्कृष्यते यत् -

1. एवंविधे शरीरे कः काम उपभोगो वा योग्यः यत् अस्थि-चर्म-स्नायु-मज्जा-मांस-शुक्र-शोणित-श्लेष्मा-अश्रु-मल-मूत्र-वात-पित्त-कफमयं दुर्गन्धयुक्तमसारं चास्ति। यच्च काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय-विषाद-ईर्ष्या-इष्टसंयोग-अनिष्टविप्रयोग-क्षुधा-पिपासा-जरा-मृत्यु-रोग-शोकादिभिः पराभूतमप्यस्ति।

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिका विण्मूत्रपित्तवातकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किङ्कामोपभोगैः काम-

क्रोध-लोभ-मोह-भय-विषादेर्ष्येष्ट-वियोगानिष्ट-सम्प्रयोग-क्षुत्पिपासा-जरामृत्यु-रोग-शोकाद्यैर-भिहतेऽस्मिञ्छरीरे किङ्कामोपभोगैः।[5]

2. दृश्यमानं च समस्तं क्षणभंगुरमस्ति। यथा कीट-पतंगाः, मशकाः, तृणवनस्पतयश्च सर्वाः ज्ञायन्ते नाशमाप्नुवन्ति च।

''सर्वञ्चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादयः।[6]

3. एतदतिरिक्ताः महीयांसश्चक्रवर्तिनो महाधनुर्धारिणः सम्राजस्सन्ति - सुद्युम्न-भूरिद्युम्न-इन्द्रद्युम्न-कुवलयाश्व-यौवनाश्व-अश्वपति-शशबिन्दु-हरिश्चन्द्र-अम्बरीष-ननक्तु-शर्याति-ययाति-अनरण्य-मोक्षसेनादयः सर्वेऽपि नष्टाः।

4. अन्येषां तु गन्धर्वयक्षरक्षोभूतपिशाचसर्पग्रहादीनां कुप्रभावाः दृश्यन्ते।

5. एतावदेव न समुद्राणां जलराहित्यं पर्वतानां पतनं ध्रुवाणां प्रचलनमपि दृश्यते।

6. पृथिव्याः मज्जनं देवतानां स्थानच्युतिश्चापि दृश्येते।

अत एव अन्यवरस्य कस्यचिदपि प्रार्थनया न कश्चन लाभः आत्मतत्त्वं विहाय सर्वेषामेव नाशो भवत्येवात आत्मतत्त्वमेव ज्ञातव्यम् अपि च मरुत्-भरतप्रभृतयो राज्ञः स्वसमस्तामपि सम्पत्तिं बन्धुषु वितीर्य दिव्यलोकं जग्मुरिति उदाहरणानि अपि दृश्यन्ते, अतः अन्यवरप्रार्थनया न कश्चन नित्यलाभः। यद्यस्माभिर्नित्यं किञ्चित्प्राप्तव्यं चेदात्मतत्त्वं ज्ञातव्यमेव। तं विना नान्या गतिः।

अस्मिन् संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः।[7]

2. आत्मतत्त्वं किम् ? आत्मतत्त्वस्य स्वरूपमृषिणैवमुच्यते - यः अनन्ताकाशमिव व्याप्तः दोलायमानोऽचञ्चलस्तमोऽपहरति, स एवात्मा। यः परमासीनः अस्मात् शरीरात् निःसृत्य परमप्रकाशरूपोऽप्रतिभरूपो योऽसावात्मा। तदेवामृतमभयं च ब्रह्म वर्तते।

---

[5] मैत्रायणीयारण्यकम्, १.३

[6] तत्रैव, १.४

[7] तत्रैव, १.४

अथ य एषोऽसाविविष्टम्भनेनोर्द्धमुत्क्रान्तो व्यथमानोऽव्यथमानस्तमः प्रणुदत्येष आत्मेत्याह भगवान्मैत्रिरित्येवं ह्याहाथ य एष सम्प्रससा३दोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति।[8]

3. पाप-पुण्यफलानां भोक्ता कः ?

आत्मतत्त्वस्य यत् स्वरूपमुपरि प्रस्तुतं ततः शंकोदेति यत्पुनः सः कः यः पापपुण्यकर्मफलाभिभूतः सदसद्योनीः प्राप्नोति। ऊर्ध्वाधोलोकं च याति। द्वन्द्वैरभिभूयमानः सर्वत्र भ्राम्यति। कोऽसौ ? अस्ति कश्चित् भूतसंज्ञको यः पापपुण्यकर्मफलैः प्रभावितः सदसद्योनीः प्राप्नोति? ऊर्ध्वाधोलोकान् याति, सुख-दुःखैरभिभूतः यत्र तत्र सर्वत्र भ्राम्यति ? एतदुत्तरमेव प्रस्तौति ऋषिः पञ्चतन्मात्राणि भूतसंज्ञकानि सन्ति तथा पञ्चमहाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते। एतैर्निर्मितं यत्शरीरमस्ति तदेव भूतात्मशब्देनोच्यते। कमले जलबिन्दुरिव एतैराकृतैरभिभूतोऽयमात्मा अभिभूतत्वात् सम्मूढतामाप्नोति, सम्मूढत्वाच्च आत्मस्थं प्रभुं भगवन्तं न द्रष्टुं प्रभवति। गुणैः साकं प्रवाहमानैः पापैः अस्थिरताचञ्चलतास्पृहाव्यग्रतादीन् अभिमानान् प्राप्नोति। इदमहम्, इदं मम एवम्मन्यमानः आत्मानं बन्धे पातयति। तदा च कृतकर्मणां पापपुण्यफलोपभोगाय सर्वत्र भ्राम्यति।

"अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्माख्यो३ सोऽयं सितासितैः .....
कृतस्यानुपफलैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति।"[9]

4. आत्मसायुज्यं कथं भवेत् ?

यदा च शब्दस्पर्शादयोऽर्थाः अनर्थमिव मनुष्येऽवस्थिताः भवन्ति, येष्वासक्तो मानवः परमेश्वरं विस्मरति। सः संसारसुखमेव श्रेष्ठमनुभवति।

शब्दस्पर्शादयो ह्यर्था मन्त्रेऽनर्था इव स्थिताः।
येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्।।[10]

---

[8] तत्रैव,२.२

[9] तत्रैव, ३.२

तदा कथं परमात्मना एतस्य मानवस्य सायुज्यं भवेदिति सम्यग्रीत्यात्र प्रतिपादितं वर्तते-

वेदविद्यासंचयेन, स्वधर्मपरिपालनेन, स्वाश्रमानुकरणेन, धर्मिककृत्यसम्पादनेन स्तम्बशाखेव ऊर्ध्वगतिर्भवति अन्यथाधोगतिः। एषः यः स्वधर्म उच्यते सः वेदेषु स्वधर्ममनतिक्रम्याश्रमेषु चावस्थितो वर्तते। आश्रमेऽवस्थित एषः तपस्वी भवति। तपसा विना आत्मज्ञानं न सम्भवति, कर्मसिद्धान्ताश्चापि न सम्भवन्ति। तपसा सत्त्वप्राप्तिः, सत्त्वेन मनःप्राप्तिः मनसा आत्मावाप्तिः। आत्मानं चावाप्य पुनर्जन्म न विद्यते। एतदेव ब्रह्म। य एतज्जानाति सः ब्रह्मविद् भवति। पापानां नाशनमेव ब्रह्मद्वारं येन स्वपापानि नश्यन्ते सः अपहतपाप्मा उच्यते। ओ३म् इति ब्रह्मणः माहात्म्यं वर्तते।

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः।

मनसः प्राप्यते ह्यात्मा यमाप्त्वा न निवर्तत इति।।[11]

अस्ति ब्रह्मेति ब्रह्मविद्याविदो ब्रह्मवित्। ब्रह्मद्वारम् इदमित्येवैतदाह यस्तपसापहतपाप्मा ब्रह्मणो महिमेति।[12]

यः मुक्तः सन् निरवच्छिन्नं चिन्तनं करोति। तया विद्यया, तपस्यया, चिन्तनेन च ब्रह्म प्राप्नोति। ब्रह्म सद्रूपमस्ति, श्रेष्ठमस्ति एतस्य आधिदैविकं रूपम्। यो विद्वान् अनेन विधिना ब्रह्म उपासते, सः देवताभ्यः मनीषीभ्यश्च अक्षयमनन्तं दुःखरहितं सुखं प्राप्नोति। यैश्चाभिभूतोऽयमात्मा तैर्विमुक्तः परमात्मनः सायुज्यम् उपैति। एताः अग्निवायुरादित्याद्यो ब्रह्मण एव विभूतयो वर्तन्ते। श्रेष्ठममृततत्त्वशरीरिणो ब्रह्मणः गात्ररूपं वर्तते। लोके मनुष्यः तासु अग्न्यादिदेवतासु काचित् प्रयोजनानुसारमुपास्ते, सुखं समृद्धिं च प्राप्नोति। उक्तञ्च- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** योऽग्निस्तस्य ब्रह्मणः शरीरं तस्य उपासना करणीया पूजा करणीया।

---

[10] तत्रैव,४.२

[11] तत्रैव,४.३

[12] तत्रैव, ४.४

एतेषामुपासनया उत्तरोत्तरलोकाः प्राप्यन्ते। सम्पूर्णकर्मणां च क्षयानन्तरं च व्यक्तिः परं पुरुषं प्राप्नोति। परमपुरुषरूप एव च सम्पद्यते।

ब्रह्मणो वावैताऽग्न्याः स्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्य तस्यैव लोके प्रतिमोदतीह यो यस्यानुषक्त इत्येवं ह्याह ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वं या वास्या अग्न्यास्तनवस्ता अभिध्यायेच्चेदर्चयेन्नित्यन्हुयाच्चातस्ताभिः सहैवोपर्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नः श्रेय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य।।[13]

एवम्प्रकारेण मैत्रायणीयारण्यके चतुर्णां प्रश्नोत्तराणां माध्यमेन आत्मतत्त्वं विचारितं वर्त्तते। आत्मतत्त्वं विहाय सर्वमनित्यमितिकारणात् नित्यमात्मतत्त्वं ज्ञातव्यमेव। आत्मतत्त्वस्य स्वरूपम्, जीवस्य स्वरूपम्, जीवात्मनोः सायुज्यं कथं स्यादित्यादिकमस्य पत्रस्य प्रतिपाद्यमिति।

❑

[13] तत्रैव,४.६

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

ऐतरेय आरण्यक में प्राण तत्त्व

डा० उमा शर्मा[1]

सामान्यतया प्राणतत्त्व को लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में विशेष महत्त्व प्राप्त है। भारतीय ऋषि-मुनि एवं योगियों ने प्राण-विषयक पर्याप्त अध्ययन-चिन्तन एवं मनन किया है। प्राणतत्त्व योगविद्या का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि कोई साधक प्राण पर सम्यक् रूपेण नियन्त्रण कर लेता है तो वह आध्यात्मिक उन्नति के चरम शिखर को प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीन काल से प्राण-विज्ञान एवं प्राणोपासना भारत की अपनी विचित्र बौद्धिक देन है।

अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड का छब्बीस मन्त्रों का छठा सूक्त समग्ररूपेण प्राण के ही सम्यक् विवेचन से ओत-प्रोत है। प्रथम मन्त्र में बड़े भावपूर्ण ढंग से प्राण को जगद्-व्यापी, नमस्य, उपास्य कहा गया है क्योंकि समस्त जगत् प्राण से प्रकाशित होता है तथा प्राण सृष्टि का आधार है-

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठतम्।[2]

अन्यच्च अथर्ववेद में ही प्राण को जीवनदाता कहा गया है। प्राण वायुरूपेण आकाश में व्याप्त हैं तथा भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल उसमें ही स्थित हैं-

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणो ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।।[3]

प्राण का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ भी यही है-

प्राणयति जीवयति इति प्राणः।

प्रश्नोपनिषद् में उल्लिखित है-

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।[4]

---

[1] **उपाचार्या, एन०ए०एस०कालेज, मेरठ**

[2] अथर्ववेद-११.६.१

[3] वही-११.६.१५

[4] प्रश्नोपनिषद्-३.६

ऋग्वेद और अथर्ववेद में प्राणशक्ति का विशेष वर्णन उपलब्ध होता है। एतदतिरिक्त वेदान्तदर्शन, प्रश्नोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् एवम् ऐतरेय आरण्यक में प्राणतत्त्व का सारगर्भित विवेचन उपलब्ध होता है।

सम्प्रति मेरे विवेच्य विषय ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय भाग के प्रथम चार अध्याय प्राण-विद्या विषयक ही हैं। प्रथम तीन अध्यायों के अन्तर्गत 'ऋग्वेद संहिता' के मन्त्रों का उल्लेख करके ग्रन्थकार ने इन तीन मन्त्रों की व्याख्या करते हुए 'प्राण' तत्त्व का अत्यन्त उत्कृष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है यथा अधोलिखित मन्त्र में ऋषि-दीर्घतमा प्राण के साक्षात्कार का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि- मैंने उस प्राण का साक्षात्कार कर लिया है, जो सभी इन्द्रियों की रक्षा करता है, जो स्वयं कभी भी नष्ट नहीं होता एवम् पृथक् मार्गों अर्थात् नाड़ियों द्वारा भीतर-बाहर आवागमन करता रहता है। अध्यात्म रूप में यही प्राण वस्तुतः शरीर के अन्तर्गत वायु रूप में विद्यमान रहता है और बाहर अधिदैवत रूप में यही आदित्य है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स दध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।।[5]

ऐतरेय आरण्यक में एक-एक पाद की अलग-अलग व्याख्या की गई है, यथा-

अपश्यं गोपामित्येष वै गोपा एष हीदं सर्वंगोपायति।

अर्थात् मैंने इन्द्रियों के रक्षक प्राण को देख लिया है। वस्तुतः आयुर्हेतुत्व के कारण प्राण का रक्षकत्व सुनिश्चित ही है- **अनिपद्यमाननिति न ह्येष कदाचन संविशित।**

संविशिति अर्थात् व्यापारोपरति, जैसे वागादि इन्द्रियाँ सुषुप्ति के समय व्यापारोपरत हो जाती हैं, इस प्रकार प्राण व्यापार रहित नहीं होता।

आ च परा च पथिभिश्चरन्तमित्या च ह्येषपरा च पथिभिश्चरति, इति।

अर्थात् प्राण का प्रतिक्षण समीपस्थ तथा दूरस्थ प्रदेशों में गमनागमन विविध पथों से अर्थात् नाड़ियों से होता रहता है।

'स दध्रीचीः इति' अर्थात् चतुष्कोण में परस्पर संश्लिष्ट प्राच्यादि चारों दिशाएँ।

''विषूचीर्वसानः'' परस्पर वियुक्त आग्नेयादि चार विदिशाएँ।

''आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः'' इत्येष अन्तर्भुवनेषु आ वरीवर्ति''[6]

---

[5] ऋग्वेद १.१६४.३१

[6] ऐतरेय आरण्यक २.१.६, पृष्ठ-१०७

अर्थात् ग्रन्थकार ने प्राण आदित्य रूप होना दर्शाया है। विश्व के समग्र प्राणी तथा देवता इस प्राण वायु से ही व्याप्त हैं।

अत एव जिस प्रकार आदित्य हम सबके लिए उपास्य है तद्वदेव प्राण भी उपास्य है क्योंकि प्राण ही विश्व को धारण करने वाला है। प्राण के द्वारा अन्तरिक्ष एवं वायु की सृष्टि बतायी गयी है-

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्चान्तरिक्षं वा अनुचरन्त्यन्तरिक्षमनु शृण्वन्ति वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहत्येवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरक्षिं च वायुश्च, यावदन्वत्रिक्षं यावदनु वायुस्तानवानस्य लोको भवति नास्य तावल्लोको जीर्यते, यावदेतयोर्न जीर्यन्तेऽन्तरिक्षस्य च वायोश्च य एवमेतौ प्राणस्य विभूतिं वेद इति।[7]

इस प्रकार जीव, प्राण, अन्तरिक्ष और पृथ्वी का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। अतः ऋषियों ने भौतिक, दैविक एवं आध्यात्मिक सम्बन्धों को पहचानकर, मानव-जीवन की सुख-शान्ति और सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए यज्ञों में देवों के लिए हवियों का विधान किया।

वस्तुतः यही तत्त्व प्राण से अपान-समान-व्यान और उदान इन पाँच भागों में विभक्त होकर जीवों के शरीरों को धारण करता है।

प्रश्नोपनिषद् में भी प्राण की महत्ता बताते हुए शब्दान्तर से प्राण को ही सर्वोपरि स्वीकार किया गया है, यथा-

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥[8]

अर्थात् हे प्राण! तू सब प्रकार के तेज से सम्पन्न तीनों लोकों का स्वामी इन्द्र है। तू प्रलयकाल में सबका संहर्ता रुद्र है और तू ही सबकी भली-भाँति रक्षा करने वाला है। तू ही अन्तरिक्ष में विचरण करने वाला वायु है तथा तू ही अग्नि, चन्द्र, तारे आदि समग्र ज्योतिर्गणों का स्वामी सूर्य है।

---

[7] वही-२.१.७, पृष्ठ-११०

[8] प्रश्नोपनिषद्-२.९

ऐतरेय आरण्यक में प्राण की देवातात्मक व्याख्या भी की गई है। तदनुसार वाक् में अग्नि देवता का निवास रहता है, चक्षु सूर्य है, मन को चन्द्रमा कहा गया है, दिशाएँ श्रोत्र हैं। प्राण में इन सब देवताओं की भावना करने का निर्देश दिया गया है।

ऐतरेय आरण्यक में प्राण को ऋषि रूपकारणात् उपास्य बताया गया है। प्राण शयनकाल में वागादि इन्द्रियों का निगरण करने के कारण 'गृत्स' तथा 'अपान' के रेतोविसर्गकारक मद हेतुत्वाद् 'मद' संज्ञा से संज्ञित होते हैं इस प्रकार संयुक्तरूपेण 'गृत्समद' कहलाते हैं, यथा-

प्राणो वै गृत्सोऽपानो मदः स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद्गृत्समद इत्याचक्षत एतमेव सन्तम् इति।[9]

विश्व की रक्षा करने के कारण प्राणों को 'अत्रि' संज्ञा दी जाती है-

स इदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत तस्मादत्रय इति आचक्षत।

इन्द्रियों और शरीर में निवास करने के कारण प्राण को वसिष्ठ भी कहते हैं-

तं देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठ इति।[10]

सम्पूर्ण विश्व इस प्राण देवता का भोग्य होने से मित्र है- इसलिए यह विश्वामित्र भी कहलाता है-

तस्येदं विश्वं मित्रम् आसीद्................................।[11]

सबके वन्दनीय एवं सेव्य होने के कारण वामदेव भी कहा जाता है-

तं देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वाम इति देवस्तस्माद् वामदेव इत्याचक्षत।[12]

ऐतरेय आरण्यक में एक स्थल पर सभी ऋचाओं, वेदों और शब्दों को प्राण कहा गया है-

ता एता सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात् इति।न[13]

---

[9] ऐतरेय आरण्यक-२.२.१, पृष्ठ-११७

[10] वही, पृष्ठ-११९

[11] वही, पृष्ठ-११८

[12] वही, पृष्ठ-११८

[13] वही-२.२.२, पृष्ठ-१२१

ऐतरेय आरण्यक में शिरःपर्यन्त शरीर में विद्यमान चक्षुरादि के मध्य में इन्द्रिय-प्राण संवाद में एक आख्यान द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से प्राणों का श्रैष्ठ्य प्रतिपादित किया गया है। तदनुसार एकधा चक्षुरादि इन्द्रियों का अहंकार अपनी-अपनी श्रेष्ठता को लेकर परस्पर विवाद रूप बन गया। अन्त में उन्होंने एक निर्णय लिया कि हममें से जिसके निकलने पर शरीर नष्ट हो जाये वही श्रेष्ठ होगा। इस निर्णयानुसार वाक्, चक्षु, श्रोत्र घ्राणादि सभी इन्द्रियों के क्रमशः शरीर से उत्क्रान्ति किये जाने पर शरीर बना रहा किन्तु प्राणों के निकलने पर उन-उन इन्द्रियों के व्यापार भी रूक गये परिणामतः प्राणों की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए सभी इन्द्रियों ने कहा-

तं देवा अब्रुवन्त्वमुक्थमसित्वमिदं सर्वमसि
तव वयं स्मस्त्वमस्माकमसीति।[14]

इसी कारण प्राणों को अमृत रूप कहा गया है। जब तक प्राण का शरीर में निवास रहता है तब तक शरीर नष्ट नहीं होता-

अपाङ् प्राडेति स्वधया गृभीत इत्य्ग्गनेन
ह्ययं यतः प्राणो न पराङ् भवति इति।[15]

तथा

अमृतैष देवता।[16]

ऐतरेय आरण्यक में अन्यत्र भी प्राण का अमृतत्त्व प्रतिपादित हुआ है-

अमृतो ह वा अमुष्मिँल्लोके संभवत्यमृतः सर्वेभ्यो
भूतेभ्यो ददृशे य एवं वेद य एवं वेद इति।।[17]

एक स्थान पर प्राण को सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाला कहा है-

---

[14] वही-२.१.४, पृष्ठ-१०१

[15] वही-२.१.८६, पृष्ठ-११५

[16] वही-२.१.८६, पृष्ठ-११५

[17] वही-२.२.१, पृष्ठ-११६

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथाऽयमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतान्या पिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात, इति।[18]

निष्कर्षतः प्राण की ऋषि, देवता आदि के रूप में की गई परिकल्पना वैज्ञानिक होने के साथ-साथ अत्यन्त रोचक एवं हृदयग्राही बन गई है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्राण-विद्या सर्वप्रथम ऋग्वेद से ही उत्पन्न हुई है, इसी कारण से ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय आरण्यक में भी पर्याप्त विवेचना उपलब्ध होती हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि प्राण-विद्या से सम्बन्धित ऐसा सारगर्भित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

❑

[18] वही-२.१.६. पृष्ठ-१०८

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

ऐतरेय आरण्यक का सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्त्व

डा० शुचि अग्रवाल[1]

आरण्यक ग्रन्थों का वेदों की संहिता से लेकर उपनिषद् तक की परस्पर श्रृंखला में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे परस्पर एक दूसरे के पूरक अंग हैं। किसी भी अवयव की न्यूनता से जैसे शरीर में विकृति उत्पन्न होकर अपूर्णता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार इन सभी अवयवों में से किसी एक के ज्ञान का अभाव वेद ज्ञान को अपूर्ण बना देता है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण एवं आरण्यक एक दूसरे के अधिक सन्निकट एवं सम्बद्ध हैं। इसलिये बोधायनधर्म सूत्रकार ने आरण्यकों को भी ब्राह्मण कोटि में स्थान दिया है।

विज्ञायते कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात् पूतो देवलोकान् समश्नुते इति हि ब्राह्मणामिति हि ब्राह्मणम्।।[2]

आरण्यक शब्द अरण्य से बना है तथा अरण्य का तात्पर्य है वन। ऐतरेयारण्यक भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है कि अरण्य अर्थात् वन में पढ़ाए जाने के कारण इन्हें आरण्यक कहा जाता है।[3] तैत्तिरीयारण्यक भूमिका में सायण कहते हैं-

अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते।
अरण्येतदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।
पुनश्च एतदारण्यकं सर्वं नाव्रती श्रोतुमर्हति।।

अर्थात् एकान्त जनशून्य स्थान में ब्रह्मचर्य में निमग्न होकर ऋषियों ने जिस गंभीर तथा चिन्तनपूर्ण विद्या का पाठ किया, उसका नाम आरण्यक है। इसी कारण जिसने ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं किया, वह इन्हें सुनने का अधिकारी नहीं है।

आरण्यक ग्रन्थ प्राचीनता और अर्वाचनीता के सम्मिश्रण हैं। इनमें एक ओर दार्शनिकतापूर्ण उपदेश मिलते हैं तो दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक विलासिता का

---

[1] **वरिष्ठ प्रवक्त्री, संस्कृत विभाग, एस०डी० कालेज, मुजफ्फरनगर**

[2] बोधायन सूत्र ३.७.७.१६

[3] अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमतीर्यते। ऐतरेय आरण्यक भूमिका पृ० २

परिचय मिलता है। वर्तमान में समस्त वेदों से सम्बन्धित मात्र सात आरण्यक उपलब्ध हैं। इनमें ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐतरेयारण्यक में कुल पांच अध्याय हैं। पांचों अध्यायों को आरण्यक ही कहा जाता है।

ऐतरेय आरण्यक का आरण्यक साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। सकल कर्म-काण्ड को ज्ञान की दिशा प्रदान करना ही सामान्य रूप में आरण्यकों का प्रमुख उद्देश्य है। तदनुसार मनुष्य को न तो केवल ज्ञान-मार्ग की शाश्वत सुख दे सकता है और न ही केवल कर्म-मार्ग। अतः ज्ञान एवं कर्म का समन्वित रूप ही आत्यन्तिक सुख साधन में समर्थ है। ऐतरेय आरण्यक में भी ज्ञान एवं कर्म का समन्वित रूप प्राप्त होता है।

सायण के मतानुसार विद्याधिकारी तीन प्रकार के होते हैं- उत्तम, मध्यम तथा अधम।[4] संसार से विरक्त, ब्रह्म को प्राप्त करने वालों के लिए आत्मा का **इदमेक एवाग्र आसीत्** इत्यादि उपनिषद् हैं।[5] हिरण्यगर्भ की प्राप्ति द्वारा क्रममुक्ति की इच्छा रखने वालों के प्राणविद्या है,[6] तथा दोनों प्रकार की इच्छा न करने वालों के लिए वरन् प्रजा, पशु, धन आदि की कामना करने वालों के लिए सहितोपानिषद् (तृतीयारण्यक) के उच्चारण का विधान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐतरेय-आरण्यक की रचना तीनों प्रकार के मनुष्यों के लिए की गई है। अतः इसमें संस्कृति के व्यापक रूप में दर्शन होते हैं। स्थूल कर्मकाण्ड से आरम्भ होकर ऐतरेय-आरण्यक की विचार-पद्धति की परिणति विशुद्ध सूक्ष्म अध्यात्म में होती है।

धर्म एवं दर्शन-

ऐतरेयारण्यक का आरम्भ महाव्रत से किया गया है- **ओम् अथ महाव्रतम्।** यज्ञ किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि सांसारिक मनुष्यों की इच्छाओं का ध्यान रखते हुए ऐतरेय आरण्यक की रचना की गई।

ऐतरेय आरण्यक में प्राप्त महाव्रत के वर्णन से ज्ञात होता है कि उसी समय देवताओं में इन्द्र को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। वैसे तो अन्य देवताओं की भी उपासना की

---

[4] त्रिविधो विद्याधिकारी, उत्तमो मध्यमोऽधमश्च, सायण भाष्य ३.१.१

[5] ऐतरेय आरण्यक १.४.१ ऐ०आ०, सायण भाष्य ३.१.१

[6] उक्थमुक्थम्, ऐतरेय-आरण्यक, २.१.२

जाती थी, किन्तु इन्द्र का अत्यधिक महत्त्व था क्योंकि महाव्रत अन्य देवताओं को छोड़कर इन्द्र के लिए ही किया गया है। बृहस्पति, सोम, वाक्, मित्र, वरुण, द्यावापृथ्वी, आदित्य, वायु, पूषा, अग्नि, सूर्य, नक्षत्र, मरुत् आदि देवताओं का भी यजमान की अपनी रक्षा के लिए आह्वान किया जाता था।[7] अग्नि अन्नाद्[8] सम्भतया इसका अभिप्राय यह है कि बीज के केन्द्र में जो अग्नि विद्यमान है, वह पृथ्वी के नीचे जल अर्थात् सोम को प्राप्त करके उसका भक्षण करता है और इस प्रकार सृष्टि करता है।

कर्मकाण्ड में इन्द्र की श्रेष्ठता होने पर भी ज्ञानकाण्ड में अथवा आध्यात्मिक दृष्ट से प्राण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि देवता, ऋषि एवं भौतिक संसार सबकी उत्पत्ति प्राण से हुई है। ऐतरेय आरण्यक में समस्त इन्द्रियों में प्राण की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। प्राण को विश्व का धारक बताया गया है। प्राण की ही शक्ति से मनुष्य से लेकर चींटी तक सब जीव स्थित है।

सोऽयमकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टधानित्येवं विद्यात्।[9]

यहाँ पर शरीर को मर्त्य तथा प्राण को अमर बताया गया है।[10] प्राण की प्रमुखता को मानकर यह भी बताया गया है कि प्राण सर्वत्र व्याप्त होता है।[11]

---

[7] अनु मामिन्द्रो अनु मां बृहस्पतिः अनु सोमो अनु वाग्देव्यावीत्।
अनु मा मित्रावरुणाविहावताम्।
आदित्य मा विश्वे अवन्तु देवाः।
सप्त राजानो यू उदाभिषिक्ताः।
वायुः पूषा वरुणः सोमो अग्निः।
सूर्यो नक्षत्रैरवत्विह माऽनु॥
पितरो मा विश्वमिदं च भूतं पृश्निमातरो मरुतः स्वर्काः।
ये अग्निजिव्हा उत वा यजत्रास्ते नो देवाः सुहवाः शर्म यच्छतेति॥ ऐतरेय आरण्यक ५.१.१

[8] ऐ०आ० १.१.१

[9] ऐ०आ० २.१.६

[10] मर्त्यानि हीमानि शरीराणि अमृतैषा देवता। ऐ०आ० २.१.८

[11] सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्। ऐ०आ० २.१.६

प्राण के द्वारा ही अन्तरिक्ष तथा वायु की सृष्टि हुई है। प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान हैं। अन्तरिक्ष प्राण की परिचर्या करता है। वायु शोभन गन्ध लाकर प्राण को तृप्त करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष तथा वायु ये दोनों अपने प्राण पिता की सेवा करते हैं।[12]

इन्द्रिरूप प्राण को ही रेखात्मक बताया गया है। वाक् में अग्नि देवता का निवास है, चक्षु सूर्य है, मन चन्द्रमा है तथा श्रोत्र दिशाएँ हैं। प्राण में इन सब देवताओं की भावना करनी चाहिए। प्राण ही ऋषिरूप हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी ऋषियों को प्राण कहा गया है।[13] ऐतरेय आरण्यक में सूर्य तथा प्राण को एक ही माना गया है।[14] सब वेदों, ऋचाओं और ध्वनियों को भी प्राण कहा गया है।[15]

ऐतरेय आरण्यक में अद्वैत का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है।[16] इसमें पुरुष (**शिरःपाण्यादिमान्देहः**- सिर, हाथ आदि से युक्त शरीर) को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। पुरुष को चैतन्यमय माना गया है, क्योंकि उसमें और पशु-पक्षियों की अपेक्षा अधिक ज्ञान होता है।[17] इसलिये पुरुष को उत्तम देह वाला कहा गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भौतिक देहधारी मनुष्य से अलग होकर कोई आत्मदर्शन प्रवृत्त नहीं हो सकता।

ऐतरेय आरण्यक में स्वर्ग का उल्लेख भी प्राप्त होता है। एक स्थल पर प्रेंख को स्वर्ग ले जाने वाली नौका बताया गया हैं। इसमें उल्लेख है कि प्रेङ्ख पर पीछे की ओर चढ़ना चाहिए, क्योंकि नौका पर भी मनुष्य पीछे की ओर से ही चढ़ते हैं।

---

[12] प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्चान्तरिक्षं वा अनुचरन्त्यन्तरिक्षमनुश्रृण्वन्ति। वायुपरस्मै पुण्यं गन्धमावहत्येवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च। ऐ०आ० २.१.७

[13] ऋषयो वै प्राणाः। शतपथ ब्राह्मण ३.२.३

[14] स यश्चायम शरीरः प्रज्ञात्मा यश्चासावादित्य एकमेतद् इति विद्यात्। - ऐतरेय आरण्यक ३.२.३

[15] ता वा एताः सर्वाः ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्। - ऐतरेय आरण्यक २.२.२

[16] पुरुष एवोक्थमयमेव महाप्रजापतिरहमुक्थमस्मीति विद्यात्। ऐतरेय आरण्यक २.१.२

[17] पुरुषे त्वेवाऽऽविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेदलोकालोके मर्त्येनामृतभीप्सत्येवं सम्पन्नः। ऐतरेय आरण्यक २.३.२

अन्वं च मधिरोहेदित्याहुरनूचीं वै नावमधिरोहन्ति।
नौर्वेषा स्वर्गयाणी यत्प्रेङ्खं इति तस्मादन्वं च मेवाधिरोहेत्।[18]

ऐतरेय-आरण्यक में सृष्टि का क्रम बताते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम प्रजापति से देवताओं की उत्पत्ति हुई। देवताओं का रेत वर्षा, वर्षा का रेत औषधि, औषधि का रेत अन्न, अन्न का रेत, रेत का रेत प्रजा, प्रजा का रेत हृदय, हृदय का रेत मन, मन का रेत वाणी, वाणी का रेत, कर्म और पुरुष के द्वारा किया गया कर्म ब्रह्मलोक है।[19] इस प्रकार यहां कर्म का महत्त्व बताया गया है। संभवतः यहां पुनर्जन्म का संकेत भी प्राप्त होता है कि जैसे कर्म मनुष्य अपने पुनर्जन्म में करता है, उसी प्रकार का लोक वह प्राप्त करता है।

समाज - ऐतरेय-आरण्यक का समाज कैसा था? उनका जीवन, कार्यकलाप, वर्णव्यवस्था आदि किस प्रकार की थी इसका भी उल्लेख ऐतरेय आरण्यक में प्राप्त होता है। यद्यपि इसमें वर्ण-व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि सभी वर्ण अपने-अपने नियत कर्मों को करते थे। ब्राह्मणों से मिलने पर उनके कुशल पूछने की विधि स्मृतियों[20] के समान ही थीं।[21] वैश्य व्यापार द्वारा बहुत धन कमाते थे। अतिथि का सत्कार करना गृहस्थ का परम कर्तव्य था। किन्तु उसी अतिथि का सत्कार किया गया था, जो सन्मार्ग पर चलता था।

यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति।[22]

---

[18] ऐतरेय आरण्यक १.२.४

[19] अथातो रेतसः सृष्टिः। प्रजापते रेतो देवा देवानां रेतोवर्ष वर्षस्य रेत ओषधय ओषधीनां रेतोऽन्नमन्नस्य रेतो रेतो रेतसो रेतः प्रजाः प्रजानां रेतोहृदयं हृदयस्य रेतो मनो मनसो रेतो वाग्वाचो रेतः कर्म तदिदं कर्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः। ऐतरेय आरण्यक २.१.३

[20] न त्वेवान्यत्कुशलाद् ब्राह्मणं ब्रूयात। ऐतरेय आरण्यक ३.१.३

[21] ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्य क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च।। मनुस्मृति २.१.२७

[22] ऐतरेय आरण्यक १.१.१

असाधु पुरुष अत्यन्त दरिद्र होते हुए भी आतिथ्य का भागी नहीं होता था।[23] इस प्रकार ऐतरेय आरण्यक में गुणों की पूजा का संकेत प्राप्त होता है। यहां पर आध्यात्मिक चारित्रिक उत्थान की विशेष वैदिक भावना भी सुरक्षित है।

ऐतरेय ब्राह्मण के समान ऐतरेय आरण्यक में छन्दों के द्वारा मनुष्यों की पूर्ति का उल्लेख है। गायत्री आदि छन्द अपने उच्चारणकर्ताओं की विभिन्न कामनाओं की पूर्ति करते हुए वर्णित किए गए हैं। गायत्री को तेजस्वी और ब्रह्मवर्चसी कहा गया है तथा उसका उच्चारण करने वाला भी इन गुणों से युक्त हो जाता है।[24] इसी प्रकार अन्य छन्दों को भी अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त बताया गया है।

सम्भवतः उस समय में मनुष्य वेद-शास्त्रों के ज्ञाता, दीर्घजीवी तथा तपस्वी होने की कामना किया करते थे। सांसारिक मनुष्य तीनों लोकों अर्थात् पृथिवी, द्युलोक तथा अन्तरिक्ष में पशु, पुत्र, पौत्र, धन-धान्य आदि की कामना किया करते थे।

ऐतरेय आरण्यक के समय स्त्रियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। स्त्री का इतना अधिक महत्त्व दिखाई देता है कि पुरुष को स्त्री के बिना अपूर्ण कहा गया है। ऐसा वर्णन मिलता है कि पत्नि को प्राप्त करके मनुष्य स्वंय को अधिक पूर्ण मानता है।[25] ऐसा माना जा सकता है कि उस समय में विवाह तथा गाहिस्था अभीष्ट है, जिससे मनुष्य का जीवन समन्वय से युक्त हो।

ऐतरेय आरण्यक के समय में स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार प्राप्त था। ऐतरेयोयनिषद (२.१) में गर्भाधान का अनुषांगिक वर्णन किया गया है। अतः ऋषि, इस अध्याय का प्रवचन करते हुए कहते हैं कि गर्भिणी स्त्रियाँ यहां से उठ जाएं (**अपक्रमन्तु गर्भिण्यः**) यह निर्देश केवल गर्भिणी स्त्रियों के लिए होने से यह स्पष्ट है कि गर्भिणियों को छोडकर सामान्य स्त्रियों को वेद व आध्यात्मिक प्रवचन सुनना वर्जित नहीं था।

---

[23] न वा असन्तमातिथ्यायाद्रियन्ते। ऐतरेय आरण्यक १.१.१

[24] तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवतीति। ऐतरेय आरण्यक १.१.३

[25] पुरुषो जायां वित्त्वां कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते। ऐ०आ० १.३.५

मनोरञ्जनार्थ क्रीडाओं में अश्वारोहण महत्त्वपूर्ण बताया गया है। समुद्र को मनुष्य नावों द्वारा पार किया करते थे।[26]

ऐतरेय आरण्यक के समय भी धन का बहुत अधिक महत्व था। जिस व्यक्ति के पास बहुत अधिक धन होता था, वह चाहे किसी भी वर्ण का हो ब्राह्मण को भी अपशब्द कहने में असमर्थ था।[27] किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं था कि उसे सर्वदा ब्राह्मण को अपमानित करने की छूट प्राप्त थी, क्योंकि उसके लिए निर्देश किया गया है कि धनी व्यक्ति को भी ब्राह्मण का आदर करना चाहिए।[28] ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतरेय आरण्यक के समय धन के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मणों की स्थिति नितान्त अक्षुण्ण नहीं थी।

ऐतरेय आरण्यक के समय लोकजीवन में शकुन-अपशकुन अत्यधिक प्रचलित थे। इसमें कहा गया है कि प्रज्ञात्मा तथा आदित्य रूप ईश्वर में भेद दिखाई देने, सूर्य के चन्द्रमा के समान शीतल होने, मंजिष्ठा के समान द्युलोक के लाल प्रतीत होने इत्यादि[29] पर उस व्यक्ति की मृत्यु निकट ही समझनी चाहिए। कीथ महोदय के मतानुसार यह न्याय संगत युक्ति नहीं है, क्योंकि प्रज्ञात्मा तथा आदित्य में भेद होने पर मृत्यु के संकेत का कोई कारण दिखाई नहीं देता है। अन्य संकेत समाज में प्रचलित प्राचीन विचार बताए गए हैं।[30] यह सम्भव है कि

---

[26] तिर्यंच वा अश्वमधिरोहति अनूचीं वै नावमधिरोहन्ति। ऐ०आ० १.२.४

[27] अतिद्युम्न एव ब्राह्मणं ब्रूयात्। वही ३.१.३

[28] नातिद्युम्ने चन ब्राह्मणं ब्रूयनान्नमोऽस्तु ब्राह्मणेभ्यः। वही

[29] स यश्चायमशरीरः प्रज्ञात्मा यश्चासावादित्य एकमेतदित्यावोवाम्।
तौ यत्र विहीयेते चन्द्रम् इवादित्यो दृश्यते न दृश्मयः।
प्रादुर्भवन्ति लोहिनी द्यौर्भवति यथा मंजिष्ठा व्यस्तः पायुः,
काककुलायगन्धिकमस्य शिरो वायाति संपरेतोऽस्यात्मा न,
चिरामिव जीविष्यतीति विद्यात्। ऐतरेय आरण्यक ३.२.४

[30] This is not very logical, as there is no reason why the separation of the two should be a sign of death. The rest of the signs are clearly old folklore ideas pressed into service. ऐतरेयआरण्यक कीथ पृष्ठ २५१, टिप्पणी ५

कुछ अनुभवों के आधार पर मृत्यु से पूर्व की स्थिति का वर्णन किया गया है। स्वप्न में भी कुछ विशेष प्रकार की वस्तुएं देखकर लोग यही सोचते थे कि हमारा अन्त समय निकट है।[31]

ऐतरेय आरण्यक केवल ज्ञान को नहीं, अपितु सत्यनिष्ठ नैतिकता को भी अमृतत्व का आधार मानता है। सत्य बोलना सत्यसंकल्प करना, सत्यकर्म करना आदि वेद धर्म का प्रधान उद्देश्य था। सत्यवादी लौकिक धन, सम्पत्ति, यश आदि से युक्त हो जाता है तथा वैदिक पुण्य-अनुष्ठान से कीर्ति आदि भी प्राप्त करता है।

तैदेतत्पुष्पं फलं वाचो यत्सत्यं सहेश्वरो यशस्वी कल्याण कीर्तिर्भवितोः पुष्प हि फलं वाचः सत्यं वदति।[32] मिथ्याभाषण करने वाला नाश को प्राप्त करता है।[33] किन्तु यह सांसारिक मनुष्यों से सम्बद्ध होने के कारण हितकारी असत्यवादिता का भी अनुमोदन करता है। सत्य और अनृत के मिथुन से मनुष्य उस लोक में निन्दा-रहित रहता है तथा पर लोक में उत्कृष्ट जन्म प्राप्त करता है।[34]

दान के सम्बन्ध में ऐतरेय आरण्यक का दृष्टिकोण अत्यन्त संतुलित है। सांसारिक मनुष्य के लिए सर्वस्व दान करना प्रशंसनीय नहीं है तथा धन-सम्पदा से पूर्ण होने पर याचक को संतुष्ट न करना अनुचित है। ऐसा मनुष्य पाप अर्जित करता है तथा जीवित ही मृततुल्य है।[35]

इस प्रकार ऐतरेय आरण्यक कें सामान्य लोकजीवन तथा समाज की झलक प्राप्त होती है।

ललित कलाएं तथा शिक्षा:- ऐतरेय आरण्यक के समय संगीत तथा नृत्य का बहुत अधिक प्रचलन था। सामाजिक उत्सवों में नहीं अपितु याज्ञिक उत्सवों में भी संगीत तथा नृत्य का प्रयोग किया जाता था। विभिन्न प्रकार के सामों का गायन भी उस समय किया जाता था। महाव्रत कर्म में स्त्रियाँ वीणावादन करती थीं।

---

[31] अथ स्वप्नाः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति सं एनं हन्ति वराह एनं हन्ति। वहीं ३.२.४

[32] ऐतरेय - आरण्यक २.३.६

[33] वही २.३.६

[34] सत्यानृते मिथुनीकरोति तयोर्मिथुनात्प्रजायते भ्रयान्भवति। वही

[35] स यत्सर्वं नेति ब्रूयात्पपिकाऽस्य कीर्तिर्जायेत सैनं तत्रैव हन्यात्। ऐतरेय आरण्यक २.३.६

आघ्नन्ति भूर्मिदुन्दुभिं पत्न्यश्च काण्डवीणाः।[36]

उस समय शततन्तु वीणा का भी प्रयोग किया जाता था। इसमें उल्लेख है कि वर्ष-पर्यन्त गायों की रक्षा करना प्रत्येक विद्यार्थी का कर्तव्य था। सम्भवतया ये गायें गुरु की ही रही होंगी। गुरु की सेवा किए बिना वह विद्या अर्जित नहीं कर सकता था। तात्पर्य में उपनिषद् विद्या प्राप्त करने के लिए एक वर्ष तक गायों की रक्षा की[37] इससे प्रतीत होता है कि शिष्य गुरु के समीप रहकर गुरु की सेवा करता था। विद्या प्राप्ति के लिए गुरु एवं शिष्य दोनों का ही गुणी होना आवश्यक था, क्योंकि तभी उपनिषद की शिक्षा पूर्णतया सम्भव थी।[38]

शिष्य के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसे पृष्ठ तथा पुराभोग से कृश नहीं होना चाहिए। अधिक वस्त्रों इत्यादि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[39] इससे प्रतीत होता है कि शिष्य को स्वस्थ होना चाहिए।

अध्ययन के समय शारीरिक पवित्रता एवं सौम्यता के विशेष नियमों का उल्लेख भी इसमें किया गया है, क्योंकि इससे चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। ऐतरेय आरण्यक में एक स्थान पर उल्लेख है कि इस ग्रन्थ का अध्ययन मांसभक्षण, लोहित दर्शन, मृतप्राणिदर्शन, स्वशरीर का पुष्पादि द्वारा अलंकरण आदि स्थितियों[40] में नहीं करना चाहिए। इससे संकेत मिलता है कि यद्यपि मांसादि भक्षण समाज में प्रचलित होगा, किन्तु उसे पवित्र कार्यों से सम्बंद्ध नहीं किया जाता था।

---

[36] वही ५.१.५

[37] एतस्थां हस्मोपनिषदि सवत्सरं गा रक्षयते ताक्ष्यः। वही ३.१.६

[38] ता एताः संहिता नानन्तेवासिने प्रभूयान्नासंवत्सरवासिने नावप्रवक्त्र इत्यापार्याः। वही ३.२.६

[39] ऐतरेय आरण्यक ५.३.३

[40] अधीयीत न मां से भुक्त्वा न लोहितं दृष्ट्वा न गतासुं
ना व्रत्यमाक्रेभ्य नाक्त्वा नाभ्यज्य नोमर्दनं कारायित्वा,
न नापितेन कारयित्वा न स्नात्वा न वर्णकेनानुलिन्य
न स्रजमपिनह्य ना स्त्रियमुपगम्य नोल्लिव्य नावलिख्य। ऐतरेय आरण्यक ५.३.३

इस प्रकार देखा जा सकता है कि ऐतरेय-आरण्यक के समय का समाज बहुत सन्तुलित था। उस समय धर्म, शिक्षा आदि के साथ सांस्कृतिक पक्ष पर भी बल था। अतः कहा जा सकता है कि ऐतरेय-आरण्यक के समय में आधिभौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक उन्नति का भी समन्वय किया गया था।

❑

वैदिकयज्ञादिकर्मकाण्डेषु पशुहिंसा

आचार्यो बृहस्पतिः निगमालङ्कारः[1]

अखिलेऽपि वैदिकवाङ्मये सर्वत्र यज्ञादिकर्मकाण्डेषु पशूनां दानस्य विधानन्तु वेविद्यते परं पशुमारणस्य विधानं न क्वचित् परिलक्ष्यते। पुनरपि **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतीति** दम्भोक्तिः पवित्रश्रद्धालुजनमानसे स्थानमध्यकरोदिति नूनं विचारणीयोऽयं विषयः। अत्र कारणेषूह्यमानेषु वेदानां कदर्थीकरणमेव मुख्यकारणत्वेन विचारसरणीमवगाहते प्रेक्षावतां विपश्चिदपश्चिमानाम्। जिज्ञासया उदाहृयते- यजुर्वेदस्य चतुर्विंशतितमेऽध्यायेऽनेकेषां देवानामुल्लेखो वर्तते, सहैव जलचराणां नभश्चराणाञ्च बहूनां पशूनां नामानि परिगण्यन्ते। तेषां संख्या ३३७ (सप्तत्रिंशदुत्तरत्रिशतम्) यावत् प्राप्नोति। अत्र आलभते इति क्रियापदमाधारीकृत्य एवोव्वटमहीधरादयो भाष्यकाराः कामप्यकथनीयां विचित्रां लीलां रचितवन्तः।

विदन्त्येव तत्रभवन्तो विचारवन्तो विद्वान्सोऽनेकार्था हि धातवः। पुनरपि प्रकरणानुसारमर्थानां विनियोगस्तु नितरामपेक्ष्यते। वेदो हि नाम अशेषविश्वविज्ञानविशेषपरिज्ञानपदं शाश्वतिकमपौरुषेयं शास्त्रम्। तेषां ह्यर्थो वेदस्य भाषामाध्यमेनावगन्तुं शक्यते नान्यथा। तैः खलु दुराग्रहग्रहिलैः वैदेशिकैस्तदनुवर्तिभिः वेदस्य समुचितां सरणिमपास्य यौगिकपद्धतिञ्चानूरीकृत्य वेदाः कदर्थीकृताः। परिणामतः आलम्भनपदस्य हिंसार्थ एव प्रतिपादितः। यद्यपि वैदिकवाङ्मये आलम्भनमित्यस्य पदस्य स्पर्शः सम्यक् ज्ञानप्राप्तिरित्यर्थोऽपि घण्टाघोषपुरस्सरं जोघुष्यते। आलम्भनं नाम स्पर्श इति मनुः-

स्त्रीणां प्रक्षणालम्भनमुपघातं परस्य च।। मनु० १.१०

सम्यक् ज्ञानप्राप्तिरिति यास्कः-

यथा वा अधोरामः सावित्र इति पशु साम्नाये विज्ञायते। स कस्मात् (गुण) सामान्यात् इति। अधोरामः पक्षीविशेषो वर्तते। यो हि सवितृवदुपरिदृष्टादालोक इव श्वेतः, तम इव अधस्तात् कृष्ण इति। तथैव-

[1] आचार्यः, गुरुकुल-नवप्रभात-वैदिकविद्यापीठम्, उत्कलम्

अश्वतूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः। यजु०२४.१

प्रजापति-देवता-नाम्नि अश्व, तूपर (अनिर्गतशृङ्गोऽजः) गोमृग (गवयः) आदीनामालम्भनं कुर्यादिति। अस्य मन्त्रस्य व्याख्यायां महर्षिदयानन्दस्वामिनो वर्णयन्ति- अत्र सर्वत्र देवतापदेन तत् गुणयोगात् पशवो वेदितव्याः। महर्षेरुक्तिरियं शतपथब्राह्मणस्य वाक्येनानेन नितरां परां पुष्टिं पुष्णातितराम्।

क्षत्रं वा अन्वश्वो वैश्यश्च शूद्रश्चानुरासभो ब्राह्मण अजः। शत०ब्रा०६.४.४.१२६

क्षत्रियस्यानुगामी अश्वो बलशालीत्वात्, वैश्यशूद्रयोः रासभोऽनुगामी स्वल्पाहारात् परिश्रमाधिक्याच्च, ब्रह्मणस्याजोऽनुगामी विनीतत्वात्। अयं भावः यस्याः देवतायाः यः पशुः निगदितस्तस्मात् स एव गुणो ग्रहीतव्य इति, यथा खलु व्याहरति भगवती श्रुतिः-

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।

पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा। यजु० ३९.४

अर्थात् हे प्रभो! मनस उत्तमं कामं, वाचा सत्यं, पशुभ्यः पदमन्नाद् रसञ्च प्राप्नुयामिति।

परं सन्तापपरोऽयं विषयो यदुवटमहीधरादिभिः भाष्यकारैः यज्ञादिकर्मकाण्डेषु ताभ्यः ताभ्यः देवताभ्यः तांस्तान् पशुविशेषान् विहिंस्य तान्मांसैराहुतिप्रदानस्य विधानं क्रियते। अनेन तैः सुतरां हिंसाकर्मात्यर्थं विगर्हितं परुषतरैः खल्वक्षरैः। यथा वाहाथर्णव ऋषिः-

यदि नो गां हंसि यदश्वं यदि पूरुषम्।

तं त्वा सिसेन विध्यमानो यथानोऽसोऽरहा।। अथर्व०१.१६.४

गवादिपशुघातका राज्ञा दृढं दण्डनीयेति विधिः स्पष्टं प्रत्यपादि। ऋग्वेदे यथा-

आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नं क्षयद्वीरसुम्नमस्मेते अस्तु।

मृडा च नो अधि ब्रूहि देवाधा नः शर्मयच्छाद्विबर्हा।। ऋग्० १.११४.१०

यदि वा वेदेषु क्वचिद्धिंसाविधानमनुमतमभविष्यत् तर्हि यजुर्वेदर्षिः प्रथममन्त्रे **यजमानस्य पशून् पाहि** इति नोदचरिष्यत्। मन्त्रंशेनानेन यजमानस्य पशूनां रक्षार्थं प्रार्थना विधीयते। एवं पशुहिंसानिषेधविधायका मन्त्रः वेदेष्वनेकश उपलभ्यन्ते। यथा-

इमं मा हिंसीः द्विपदं पशुम्। यजु० १३.४७

पशुंस्त्रयेथाम्। यजु० ६.११

मागामनागामदितिं वधिष्ट। ऋग्० ८.१०१.१५

सर्वेषां विदितमेवैतद् यद् यज्ञ इत्येकं पवित्रं वैदिकमनुष्ठानं सर्वश्रेष्ठं कर्म। तत्र पुनः पशुहिंसा कथं सम्भवति? अध्वर इति शब्दः यज्ञस्य पर्यायवाची। हिंसावर्जितं कर्म नामाध्वरः। यतः अध्वरं राति ददाति इति अध्वरः इत्यस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थः। तथा च निरुक्तशास्त्रे आचार्ययास्कमुनिराह-

ध्वरिति हिंसा कर्मा तत् प्रतिषेधो निपात अहिंस्र इति॥

हिंसकः याज्ञिकान् तिरस्कुर्वता पञ्चतन्त्रकारेण पण्डितविष्णुशर्मणापि काकोलूकीयनामके तृतीये तन्त्रे कठोरोक्त्या भाषितम्- **"एतेऽपि याज्ञिकाः यागकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति। एते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किल एतदुक्तम्-अजैर्यष्टव्यमिति। अजाः व्रीहयः वार्षिकाः न पुनः पशुविशेषः। उक्तं च-**

वृक्षान् छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गः नरकं केन गम्यते॥

उक्तिभिराभिर्ध्वन्यते यदविदितवेदमर्मभिरज्ञानिभिरेवेयं पशुहिंसायाः जघन्यलीला प्रवर्तिता। यामालोक्य नास्तिकप्रवरेण चार्वाकेणापि मृदूपहासायासादितोऽवसरः।

पशुश्चेन्निहितः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कथं न हिंस्यते॥

युगजन्मा महर्षिदयानन्दसरस्वती प्रसंगेऽस्मिन् सत्यार्थप्रकाशस्य एकादशसमुल्लासे पूर्वपक्षिणं प्रत्युत्तरन् सावेशमाह-

वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं तो तुझे और तेरे कुटुम्ब को मारकर होम कर डाले तो क्या चिन्ता है?

महाभारतस्य शान्तिपर्वणि महर्षेः व्यासस्य वचनानि वाममार्गिणः पशुयागवादिनश्चेतयन्ति गर्जन्तीव प्रतिभान्ति।

अजैयज्ञेषु यष्टव्यम् इति वै वैदिकी श्रुतिः।
अज संज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ।
नैष धर्म सतां देवाः यत्र वध्येत वै पशुः॥ महा०शान्ति० ३३७.४,५

महामना महर्षिमनुस्तु **'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला'** इति कथनेन परिहारं करोति। वेदस्य यान् शब्दान्, मन्त्रान् प्रकरणविशेषान् वाऽऽधारीकृत्य पशुयागिनः पशुधातुरूपे घृण्यकार्ये प्रवृत्ताः सन्तः अनादिनिधनायाः भगवत्याः श्रुतेर्महिमामण्डितो यो

गरिमा चमास्ति-**''एकः शब्दः सुविज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति।''** एतस्मिन् कुठाराघातं कृतवन्तः। अमुं विषयमनु विदुषां दृष्ट्याकर्षणं क्रियते। स्थालीपुलाकन्यानेन शब्दविशेषान् प्रसङ्गविशेषं वोद्धरामो यथा- पशुः, यूपः, संज्ञपनम्, आलम्भनम्, अवदानम्, गोघ्न इत्यादयः। **''अनन्ता वै वेदाः''** वेदस्त्वनन्तज्ञाननिधानम्। परं केषां कृते? ये बहुश्रुताः भूयोविद्यास्तत्वदर्शिनस्त एव वेदस्यानन्ततामवगच्छन्ति। व्याकरणेतिहासनिरुक्तपुराणादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनं विना वेदस्य तद्व्याख्यानरूपाणाञ्च ब्राह्मणग्रन्थानां दूरेऽस्त्वबोधस्तेषु प्रवेशो न सम्भवति। सत्यपि प्रवेशे **''पङ्के गौरिव सीदसि''** इत्युक्तिः सार्थकी बोभूयते। भगवत्याः श्रुतेरपि तेभ्योऽल्पश्रुतेभ्यो भयं जायते-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

नूनमनेन सह पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिप्रदर्शितः प्राचीनो यौगिकवादः आश्रयितव्यः। अमुमेव यौगिकवादमाश्रित्य महर्षिणा स्वामिदयानन्देन विश्वमभितो वेदानां यथार्थं स्वरूपमुपस्थाप्य गौरवान्वितं विहितम्। प्रत्येकं नाम धातुजमित्यवधारणा नाम यौगिकम्। व्यापकैर्यौगिकैरर्थैः पूर्णतया वेदा अनन्तज्ञान-निधयः। यौगिकरीतिम् अन्तरेण अनन्तार्थानां परिप्रकाशोऽसम्भवः। तद्वेदार्थानां परिप्रकाशेऽपरिहार्यः खलु यौगिकवादः। अपरञ्च विनियोगवादस्य दुरुपयोगमस्य स्थान एवोपयोगो विधेयः। अन्यथा नवीनमीमांसकानामेव महती दुर्गतिरेव भविष्यति। उक्तं हि विनियोगम् अधिकृत्य वेद-ब्राह्मणानाम् अगाधमर्मावगाढैर्वरेण्यलब्धवर्णैः स्वामिसमर्पणानन्दैः **'अन्यत्रेपात्तानां वाक्यानां यथास्थानमुपयोगो विनियोगः' इति।** कस्यापि ग्रन्थस्य प्रकरणविशेषस्य प्रसङ्गानुसारं तदनुकूलप्रकरणे उपयोग एव विनियोग उच्यत इति भावः। न चेत्तथाऽर्थस्यानर्थत्वम् उत्पद्यते। अथ पशुयागादीनां प्रश्रयप्रदान् वेदेषूपलब्धान् पश्वादिशब्दान् अधिकृत्य विचारो विधीयताम्।

१. **पशुः-** वेदेषु 'पशु'इत्यस्यार्थो बालक इत्यपि भवति। यतो हि बालकस्य जीवनं शैशवे निसर्गबुद्ध्यैव प्रचलति। परं क्रमशो मननशक्तिः प्रवर्धते। पशुस्तु निसर्गबुद्ध्यैव पश्यति- **''पश्यति इति पशुः''।**

अथर्ववेदस्यैकत्र मन्त्रेऽस्ति-

''वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थात् नानारूपाः पशवो जायमानाः।।'' इति। अथर्व० २४.२.२६

नववधूं प्रति आशीर्वादप्रसंगे कथ्यते- अस्या जनन्या अंके जायमानाः पशवः प्रतिष्ठिताः भूयासुः। प्रसंगेऽत्र कश्चिदपि प्रेक्षावान् विद्वान् भाष्यकारः 'पशु'इत्यस्य 'बालक' एवार्थं बोधयिष्यति। ग्रिफीथादिभिः प्रसंगेऽत्र रत्नीकधर्मान्धैः वैदेशिकविद्वद्भिरप्यस्यर्थः babies इति कृतः।

२. **यूप**:- लौकिकेषु कोषेषु 'यूप'शब्दस्य 'यज्ञस्तम्भ'इत्यर्थः।यथा कुमारसम्भवे पार्वतीतपस्यावर्णनप्रसंगे महाकविकालिदासो वर्णयति-

''अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया।'' कु०सं० ३/६/४

किन्तु ब्राह्मणग्रन्थेषु यूप इत्यस्यार्थः शिक्षको यजमानो वा भवति। यथाह शतपथस्यर्षिः-

यजमानो वा एषः निदानेन यत् यूपः। शत०ब्रा० ३.६.४

३. **संज्ञपनम्**- ज्ञा अवबोधने इति धातुः, तस्मात् णिजन्तात् पुगागमात् ल्युट्प्रत्ययेन संज्ञपनम् इति शब्दः सिध्यति। यस्य व्युत्पत्तिर्लभ्योऽर्थो भवति- सम्यक् ज्ञानमिति। तदस्य मारणमित्यर्थः कुतः सम्भवतीति त एव प्रष्टव्याः।

४. **आलम्भनम्**- प्राप्त्यर्थकात् आङ् पूर्वकात् लभ् धातोर्ल्युट्प्रत्यययोगेन आलम्भनमित्यस्य शब्दस्य सिद्धिर्भवति। यस्य हि भाष्यकारैः प्रकरणानुसारं स्पर्शः इत्यर्थः प्रकाशितः। परं पशुयागवादिनोऽस्य हिंसाऽर्थे विनियोगं कुर्वन्ति।

५. **अवदानम्**- दोऽवखण्डने, डुदाञ् दाने, देङ् रक्षणे इत्येतेभ्यः धातुभ्योऽवदानशब्दस्य सिद्धिः। देङ् रक्षणे धात्वर्थो यत्रेपेक्षितस्तत्र दोऽवखण्डने इति धात्वर्थाभिप्रायात्- अवद्यतीति अवदानम् कृत्वा स्वार्थं साधयन्ति, यच्च भगवत्याः श्रुतेराशयविरुद्धं भवति।

६. **गोघ्न**:- हन हिंसागत्योः इति हिंसार्थकात् गत्यर्थकाच्च हन् धातोः दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने इति सूत्रेण गोघ्नः शब्दः निपात्यते। ''गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च। गोघ्नोऽतिथिः इत्यस्यार्थः ''गाम् अस्मै हन्यते'' यस्मिन्नतिथावागते दुग्धादिगव्यं प्राप्यते। उक्तं हि निरुक्ते-

''अथाप्यस्यां तद्धितेन कृत्स्नवत् निगमा भवन्ति गोभिः श्रीणीत मत्सरम्।''

गो इत्यस्य तद्धितान्तस्य योऽर्थः सोऽप्रत्ययान्तस्याप्यर्थः द्योतते। गोर्दुग्धमपि गो शब्देनाभिधीयते। अतोऽत्र गोघ्न इत्यस्यान्यथार्थः नावगन्तव्यः।

एवमवगतमस्माभिर्यत् वैदिकवाङ्मये कुत्रचिदपि पशुहिंसा नास्ति प्रतिपादितेति। तथापि भारतवर्षस्य दौर्भाग्याद् वैदेशिकानामाक्रान्तानां दुरभिसन्ध्या वा पशुयागवादिनो वेदशास्त्रण्याक्रम्य भारतवर्षे स्वं वर्चस्वं प्रतिष्ठापितवन्तः। येन पशूनां करुणैरार्तनादैः व्यथितो

विरक्तश्च शक्यमुनिर्महात्मा बुद्धो वेदानपाश्रित्य भूतदयायाः पुनरुद्धारमात्रं समीहितवान्। किन्तु महर्षिदयानन्दः वेदोद्धारणेन सह पशूनामपि रक्षार्थं बद्धपरिकरोऽभवत्। पशुरक्षानिमित्तमेव कविर्जयदेवो दशावतारपद्ये महात्मनो बुद्धस्य यशोगानं कृतवान्-

''निन्दसि यज्ञविधेरहह! श्रुतिजातम्।
सदयहृदय-दर्शितपशुघातम्
केशव धृतशरीर जय जगदीश हरे।।''

परं येन महर्षिणा दयानन्दस्वामिना वेदानां पशूनामपि च परित्राणं कृतं तस्य यशोगानं कुत्र कथं वा विधेयम्? अनिर्वचनीयो हि महिमा महर्षेः।

रक्षिता पशवस्तेन मुनिना श्रुतिघातिना।
जुगोप यतिराजस्तु पशून्नपि श्रुतीरपि।।
रक्षिता जीवलोकस्य ब्रह्मकोशस्य रक्षिता।
जयतादृषिराजो हि धर्मस्य परिरक्षिता।।

❑

पावमानी जनवरी २०१७ अङ्क ३२/१ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

बृहदारण्यक में आत्मतत्त्व-विमर्श

डा० वेदव्रत[1]

वैदिक साहित्य विश्व का श्रेष्ठतम एवं प्राचीनतम साहित्य है। जिस समय अशेष विश्व अज्ञान की घोर विभावरी में गहन निद्रा में तल्लीन था, उस समय मेरे ऋषि का पावन अन्तस् ज्ञान की उषा के आलोक में आलोकित हो आनन्दोत्सव मना रहा था। सृष्टि में सारस्वत स्रोत को सर्वप्रथम प्रवाहित करने वाली भारतीय ऋषि-मेधा का सकल विश्व सदैव ऋणी रहेगा। संसार की अनेक ज्ञान सरिताओं, संस्कृतियों और परम्पराओं का उद्भावक भारतीय आर्ष-मानस ही है। वैदिक साहित्य के मुख्यतः चार भाग हैं- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्। वेदेतर वैदिक साहित्य वेदार्थ के उपबृंहण एवं संवर्द्धन के लिए ही है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर अथवा कठिन से सरल की ओर जाना मानव की नैसर्गिकी प्रवृत्ति है। इसी नैसर्गिकी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अबोधविक्लव मानवीय मानस के लिए आरण्यक ग्रन्थों की रचना हुई।

अरण्ये भवमारण्यकम् अर्थात् अरण्य में होने वाले अध्ययन-अध्यापन, शास्त्रीय एवं आध्यात्मिक चिन्तन-मनन के संकलनात्मक ग्रन्थ आरण्यक हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से वैदिक साहित्य में आरण्यक-साहित्य का विशेष महत्त्व है। ब्राह्मण एवं उपनिषदों को जोडने के लिए इन दोनों के मध्य आरण्यक ग्रन्थ सेतु का कार्य करते हैं।

आरयण्कग्रन्थों में मुख्यतः पवित्र आत्मतत्त्व, प्राणविद्या, ब्रह्मविद्या एवं प्रतीकोपासना का वर्णन है। रहस्यात्मक विद्याओं का वर्णन होने के कारण आरण्यकों को **रहस्य-विद्या** भी कहा जाता है। गोपथ ब्राह्मण में इसके लिए **रहस्य**[2] तथा दुर्गाचार्यकृत निरुक्त की टीका में **रहस्य-ब्राह्मण**[3] शब्द प्रयुक्त है। आरयण्कों में पवित्र रहस्यविद्या का वर्णन है एतदर्थ अव्रती अपवित्र व्यक्ति को इसके पढ़ने का अधिकार नही है- **एतदारण्यकं सर्वं नाव्रती श्रोतुमर्हति।** सायण, तैत्ति० आर०भूमिका ९

[1] **संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, लोहाघाट, चम्पावत (उत्तराखण्ड)**

[2] सर्वे वेदाः ...... सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः। गोपथ० १/२/१०

[3] निरुक्त १/४ दुर्गाचार्यकृत टीका

आरण्यकों में बृहदारण्यक का विशिष्ट स्थान है। यह शुक्ल यजुर्वेदीय आरण्यक शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। शतपथब्राह्मण के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य ही बृहरारण्यक के रचयिता हैं। यह आरण्यक की अपेक्षा उपनिषद् के रूप में अधिक लब्धप्रतिष्ठ है। ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् तीनों रूपों में यह चर्चित है। इसमें छः अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय उपखण्डों (ब्राह्मणों) में विभक्त है। अपने विशालतम आकार के कारण इस आरण्यक को बृहदारण्यक कहा जाता है। न केवल कलेवर की दृष्टि से अपितु अध्यात्म की दृष्टि से भी यह अग्रगण्य एवं अत्यन्त प्रामाणिक है।

भारतीय क्रान्तदर्शी ऋषि-प्रज्ञा अपने आध्यात्मिक ज्ञान के लिए विश्वविश्रुत है। इस भारतीय अध्यात्मज्ञान का आधार आत्मतत्त्व ही है। वैदिक-साहित्य में आत्मतत्त्व का विस्तार से प्रतिपादन है। अध्यात्मप्रधान उपनिषदों की प्रयोजनीयता आत्मतत्त्वनिरूपण में ही है- **सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैव उपक्षयात्** अर्थात् सम्पूर्ण उपनिषदों की परिसमाप्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने में ही होती है।[4] **तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति**[5] अतः ये मन्त्र आत्मा के यथार्थस्वरूप का प्रकाश करके आत्मसम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञान को निवृत्त करते हुए संसार के शोकमोहादि धर्मों के विच्छेद के साधनस्वरूप आत्मैकत्वादि विज्ञान को ही उत्पन्न करते हैं।[6]

आत्मशब्द के अनेकत्र अनेक निर्वचन प्राप्त होते हैं। आचार्य यास्क आत्मा शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं- **आत्माततेर्वा आप्तेर्वा। अपि वाप्त इव स्यात्। यावद् व्याप्तिभूत इति।**[7] आचार्य यास्क की इस व्युत्पत्ति के अनुसार **अत सातत्यगमने** अथवा **अपि व्याप्तौ** धातु से औणादिक मनिन् प्रत्यय करने पर आत्मन् शब्द निष्पन्न होता है।[8] इस व्युपत्ति के अनुसार आत्मा का अर्थ व्याप्तिशील तत्त्व प्रतीत होता है।

---

[4] ईशो० भूमिका शांकरभाष्य

[5] वही

[6] ईशो० भूमिका शांकरभाष्य

[7] निरु. ३/१५

[8] उ. सू. १/१५३

आचार्य दयानन्द भी **अत सातत्यगमने** धातु से आत्मशब्द की सिद्धि मानते हुए लिखते हैं- **यो अतति व्याप्नोति स आत्मा** जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है।[9]

शब्दकल्पद्रुम ने भी **अत सातत्यगमने** धातु से आत्मशब्द की व्युत्पत्ति मानी है- **अतति सन्ततभावेन जाग्रदादिसर्वावस्थासु अनुवर्त्तते अत सातत्यगमने मनिण्।** वाचस्पत्यम् भी अत धातु से आत्मन् शब्द को निष्पन्न मानता है। कुछ विद्वान् आत्मा की व्युत्पत्ति ''**अन प्राणने**'' धातु से प्राप्त मानते हैं- **अनिति प्राणान् धारयति इत्यात्मा।** इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राण को धारण करने वाला तत्त्व आत्मा सिद्ध होता है।

आचार्य शंकर कठोपनिषद् के भाष्य में आत्मा शब्द को लोक में प्रत्यक् के अर्थ में रूढ मानते हैं।[10] लिङ्गपुराण के अनुसार विषयों की प्राप्ति, विषयों का आदान और विषयों का भोग करने वाला तथा जिसकी सत्ता निरन्तर विद्यमान रहती है, वह आत्मतत्त्व है-

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।। लिङ्ग० १.७०.९६

प्रमेयरत्नावली के अनुसार देहादि का अतनकर्त्ता अथवा अधिष्ठान करने वाला तत्त्व आत्मा कहलाता है।[11] शिववार्तिक के अनुसार कर्मानुसार नाना योनियों में संसरण करने वाला तत्त्व आत्मा है।[12] कुछ आचार्यों के मत में मुक्त पुरुषों के द्वारा जिस तत्त्व की प्राप्ति की जाती है, वह तत्त्व आत्मा है।[13]

इस प्रकार आत्मा की व्युत्पत्ति के विषय में मतवैभिन्य शास्त्रों में दृष्टिगोचर होता है पुनरपि प्रायः आचार्यों ने **अत सातत्यगमने** धातु से ही आत्मन् शब्द का निर्वचन माना है।

प्रायः सभी आरण्यकों में आत्मतत्त्व की चर्चा है। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार जीव के अन्दर विद्यमान जो तत्त्व अदृष्ट, अज्ञात और अश्रुत है, वही द्रष्टा, ज्ञाता और श्रोता है। इसी तत्त्व को आत्मा कहते हैं- **स योऽतोऽश्रुतोऽमतोऽनतोऽदृष्टोऽविज्ञातोऽनादिष्टः श्रोता मन्ता द्रष्टाऽदेष्टा घोष्टा विज्ञाता प्रज्ञाता सर्वेषां भूतानामान्तरपुरुषः स म आत्मेति विद्यात्** (३.२)।

---

[9] सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास

[10] स प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन्। कठो०२.१.१

[11] देहेन्द्रियादिकं सर्वं परार्थमतति व्याप्नोति अधितिष्ठति इत्यात्मा। प्रमेय. पृ. १७३

[12] तत्तत्कर्मानुसारेण नानायोनिरनुव्रजन्। अततीत्यत एवात्मा...। शिववा. ३/४

[13] अत्यते लभ्यते मुक्तैरित्यात्मा। प्रमेय. १/७

यदयम् आत्मा स एष तत् तत्त्वमसि इत्यात्मवगम्यः अहं ब्रह्मास्मि। शांखा० अध्याय १३

आत्मतत्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक में कहा है कि यह आत्मा ब्रह्म है। यह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है। जो कुछ प्रत्यक्ष और परोक्ष है, सब आत्मा ही है-

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद् यदेतदिदम्मयो अदोमय इति। बृहदा० ४/४/५

इसी आत्मतत्त्व में ब्रह्म का निवास है- **आत्मनि पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे** (२/१/१३)। यह अमर है, यही ब्रह्म है तथा यही सब कुछ है- **यो अयमात्मा इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्** (२/५/३)। बृहदारण्यक में अन्यत्र भी आत्मा को ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहा गया है कि जिसमें ब्राह्मणादि पाँच वर्ण तथा आकाश प्रतिष्ठित हैं उस आत्मा को ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ-

यस्मिन्पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्।। वही ४/४/१७

अजर अमर यह आत्मतत्त्व ज्योतिस्वरूप है- **यो अयं विज्ञानमयः .... हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः।** ४/३/७

यह आत्मतत्त्व सभी प्राणियों में स्थित रहकर समस्त अन्नों का का भोक्ता और सभी प्राणियों को कर्मफल का देने वाला है, जो आत्मा के इस रूप को जान लेता है वह सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त कर लेता है-

स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद। वही ४/४/२४

विज्ञानमय यह आत्मतत्त्व हृदयस्थ आकाश में शयन करता है। यह सबको वश में रखने वाला सबका शासनकर्ता अधिपति है। यह शुभकर्मों से बढता है तथा अशुभकर्मों से छोटा नही होता। लोकों की मर्यादा भंग न हो इस हेतु वह लोकों को धारण करने वाला सेतु है। आत्मतत्त्व को ब्राह्मण स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं-

स वा एष महानज आत्मा ये अयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषो अन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष

सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाया तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा...। वही ४/४/२२

आत्मविद् सर्वविद् होकर[14] लोक में कृतकृत्य हो जाता है। आत्मविद् ही सभी का कर्ता है, उसी का लोक है और स्वयं वही लोक भी है-

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन् सन्देह्यो गहने प्रविष्टः।

स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव। वही ४/४/१३

आत्मतत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है- **आत्मनि दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्** (बृहदारण्यक ४/५/६)। आत्मतत्त्व का ज्ञाता ही मुनि बनकर संसार से प्रव्रजन करता है- **एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति** (बृहदा०४/४/२२)। इसीलिए याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान करो- **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।** क्योंकि आत्मतत्त्व का ज्ञाता पुरुष संसार में निष्काम होकर शरीर के पीछे सन्तप्त नहीं होता-

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।। वही ४/४/१२

जब यह आत्मा दौर्बल्य को प्राप्त होकर सम्मोह को प्राप्त हो जाता है तब ये वागादि प्राण इसके प्रति अभिमुखता से आते हैं- **स यत्रायमात्माबल्यं न्येत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति।** ४/४/१

आत्मतत्त्व के रहने पर ही इस शरीर का अस्तित्व रहता है। यह आत्मतत्त्व शरीर के नेत्र, मूर्द्धा अथवा शरीर के किसी अन्य भाग से बाहर निकलता है। उसके उत्क्रमण करने पर उसके साथ ही प्राण और सकल इन्द्रियवर्ग उत्क्रमण करते हैं। उस समय यह आत्मा विशेष विज्ञानवान् होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेश को ही जाता है। उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा भी जाते हैं- **एष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्द्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।** वही ४/४/२

---

[14] आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। बृ.उ. २/४/६

आत्मा के देहान्तरगमन में लगने वाले समय को बृहदारण्यक में जोंक के दृष्टान्त से समझाया गया है। जितना समय जोंक को एक तृण के अन्त में पहुँच कर दूसरे तृणरूप आश्रय को प्राप्त करने में लगता है उतना ही समय आत्मतत्त्व को देहान्तरगमन में लगता है-

यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानम् उपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यमाक्रमम् आक्रम्यात्मानमुपसं हरति। बृहदारण्यक ४/४/३

बृहदारण्यककार आत्मा द्वारा देहान्तरनिर्माण के प्रसङ्ग में सुवर्णकार का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सुवर्णकार सुवर्ण का भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर रूप की रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को नष्ट कर कर दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य भूतों के नवीन और कल्याणतर रूप की रचना करता है-

तद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रापादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वा अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम्। वही ४/४/४

भूत और भविष्य के स्वामी इस प्रकाशमान कर्मफलदाता आत्मा को जान लेने वाला व्यक्ति किसी से घृणा नहीं करता-

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमंजसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।। वही ४/४/१५

आत्मतत्त्व की कामना करने वाले व्यक्ति के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह आत्मस्वरूप ही हो जाता है- **यो अकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।** वही ४/४/६

अन्त में सारांशरूप में यह कहा जा सकता है कि संसार के सभी प्राणी दुःखों से मुक्ति चाहते हैं। बृहदारण्यक में प्रतिपादित आत्मतत्त्व के यथार्थस्वरूप को जानकर अनायास ही दुःखनिवृत्ति की जा सकती है इसीलिए उस आत्मतत्त्व को जानने का प्रयास करना चाहिए। जिसने उसे जान लिया वह कृतार्थ हो गया, अमृततत्त्व को उसने प्राप्त कर लिया तथा जिसने उसे नहीं जाना वह दुःख को ही प्राप्त करता है-

इहैव सन्तोऽथ विद्तस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति।। वही ४/४/१४

❑

गुरुकुल प्रभात आश्रम, (टीकरी) भोलाझाल, मेरठ